सहजानंद शास्त्रमाला

पंचाध्यायी प्रवचन

भाग 12

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

श्री [illegible] जैन [illegible] मंडल,
श्री [illegible],
[illegible]गंज, [illegible]

पञ्चाध्यायी प्रवचन

एकादश व द्वादश भाग

प्रवक्ता:
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१०) रु०

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

••••O••••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

ॐ

पंचाध्यायी प्रवचन द्वादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अस्ति चामूढ़दृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥५८८॥

सम्यग्दृष्टिके अमूढ़दृष्टि गुणका निर्देश—इससे पूर्व सम्यग्दर्शनका माहात्म्य, स्वरूप और सम्यग्दर्शनमें क्या-क्या चमत्कार होते हैं, उनका वर्णन करके सम्यग्दर्शनके अंगभूत निःशंकित, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा अंगोंका वर्णन किया गया। अब अमूढ़दृष्टि अङ्ग का वर्णन चल रहा है। अमूढ़दृष्टि गुण सम्यग्दर्शन सहित होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के अमूढ़दृष्टि नामक गुण अवश्यंभावी है। अमूढ़दृष्टि गुणसे विभूषित जो आत्मा है उसमें सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है। अमूढ़दृष्टि न हो अर्थात् मूढ़दृष्टिपना हो और सम्यग्दर्शन-पना हो यह बात असम्भव है। इस कारण सम्यग्दर्शनके साथ अमूढ़दृष्टिका होना अवश्यंभावी है और इसी गुणके कारण इस सम्यक्त्वकी शोभा होती है। अमूढ़दृष्टिका अर्थ क्या है और इसमें किन-किन बातोंका प्रतिषेध किया गया है, इस सबका वर्णन आगेके श्लोकमें आयगा, जिसमें सर्वप्रथम मूढ़दृष्टि व अमूढ़दृष्टिका लक्षण कहा जा रहा है।

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढ़दृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥५८९॥

अतत्त्वमें तत्त्वश्रद्धानरूप मूढ़दृष्टिका सम्यग्दृष्टि जीवमें अभाव—अतत्त्वमें तत्त्वस्वरूप का श्रद्धान होनेका नाम मूढ़दृष्टि है। मूढ़ कहते हैं मोहित दृष्टिको। मिथ्यात्वकर्मके उदय से जिसकी दृष्टि विपरीत परिचयमें मोहित हो गयी है उसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मूढ़दृष्टिमें यह बात होनी प्राकृतिक है कि अतत्त्वमें वह तत्त्वका श्रद्धान कर लेता है। जैसे जीवको शरीर रूप माना, जीवको क्रिया माना। मैं दूसरेको सुखी कर सकता हूं, दुःखी कर सकता हूं, मार सकता हूं, जीवित कर सकता हूं आदिक धारणायें मानीं तो यह उसके जीवतत्त्वके विषयमें विपरीत श्रद्धान कहलाया। इसी प्रकार कोई शरीरको हो आपा माने, शरीरके उत्पन्न होनेमें

अपनी उत्पत्ति माने, शरीरके नष्ट होने को अपना विनाश माने, यह सब अजीव तत्त्वमें उसका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। रागादिक भावको जो थोड़ा भी विवेकपूर्वक सोचेगा उसे दुःखदायी प्रतीत होगा, लेकिन ऐसा दुःख देने वाले रागादिक भावोंको ही आपा समझना और उनमें चैन मानना सो आस्रवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है। रागादिकसे दुःखकी वेदना न सह सकनेके कारण प्रयत्न करेगा मिथ्यादृष्टि तो रागादिकको बढ़ानेका ही प्रयत्न करेगा और रागादिककी वृद्धिमें ही चैन मानेगा। यों अहितकर रागादिक भावोंमें ही विश्रामकी मंशा रखने वाले जीवकी मूढ़दृष्टि कही जाती है। पुण्यफलकी बातें सुनकर अज्ञानियोंके यह संकल्प बन जाता है कि मेरे पुण्यबंध हो। पुण्यबंधको हितकारी मानना और पुण्योदय आनेपर उसके फलमें हर्ष मानना और कदाचित् पापका उदय आ जाय तो उसके उदयमें जो खोटे साधन मिलते हैं, उनमें अपना विनाश मानना, विषाद मानना—यह सब बन्धतत्त्वके विषयमें इस जीवका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। उनमें जीव यह नहीं समझ पाते कि आत्माका हित करने वाला भाव तो शुद्ध भाव है। आत्माका जैसा सहजसिद्धस्वरूप है उस स्वरूपका उस ही रूप श्रद्धान हो और इस ही प्रकार अन्तः उपयोगका पौरुष हो तो जीवका हित हो सकता है। इस बातको मिथ्यात्वके उदयमें समझना असम्भव है। तो संसारके प्राणी इस सम्वर भावको नहीं अपना सकते हैं और कदाचित् ज्ञानी जनोंकी कोई व्रतक्रिया आदिक देखे या उनका वैराग्य आदिक देखे तो उसको वे दुःखदायी समझते हैं और दूसरोंपर भी ऐसा ही भाव रखते हैं कि देखो बेचारे कितना कष्ट सह रहे हैं और अपने आपको तो शरीरिक कष्ट मानकर सहनेका भाव ही नहीं जगता। ऐसे संवर तत्त्वके बारेमें इस मिथ्यादृष्टि जीवको उल्टा श्रद्धान रहता है। जीवके दुःखका कारण इन कर्मोंका भार है। इन कर्मोंके विपाकमें इस जीवको नियमतः संक्लेश होता, क्लेश होता, ऐसे कर्मोंको दूर कर देना इस ही में तो आत्माका हित है। और ये कर्म दूर होते हैं इच्छाओंके अभावसे। जब तक इच्छा है, रागादिक भाव हैं तब तक प्रकृत्या इन कर्मोंका सम्बन्ध रहता है और उस कर्मफलसे विपरीत हुए ये प्राणी चतुर्गतिमें भ्रमण करते हैं। तो इच्छाके अभावमें इस जीवका इतना महान कल्याण है, किन्तु जिस निर्जराभावसे जीवका परमहित है उसे यह नहीं करना चाहता, उससे यह दूर रहता है, ऐसा निर्जरा तत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत श्रद्धान होना, इसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मोक्ष को किसीने यों समझ भी रखा हो कि बड़ा सुख है, और सुखका अभिलाषी कोई संसारी प्राणी उस मोक्षकी भी चाह करे तो वह इसी प्रकार सुखकी चाह करता है कि जैसे संसारके सुख देखे जा रहे हैं। उनको देखकर अनुमान करते हैं कि इन सुखोंसे अनगिनते सुख है मोक्ष में, सो इस प्रकारका श्रद्धान मोक्षका श्रद्धान ही क्या हुआ? वह तो विपरीत श्रद्धान हुआ। और जो वास्तविक मोक्षका स्वरूप है, जहाँ निराकुलता है, किसी प्रकारका क्लेश नहीं

क्लेशका कारणभूत शरीर भी नहीं है, इसी कारण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द प्रकट होता है, ऐसे विशुद्ध स्वरूप वाले मोक्षकी बाट भी नहीं जोह सकते हैं ये अज्ञानी पुरुष। लोकमें देखते हैं कि जो पुरुष या जो घटना जीवको सुखदायी मालूम होती है, बड़े चावसे उसकी प्रतीक्षा करते हैं, तो मोक्षकी यदि कोई प्रतीक्षा करे तो उससे यह प्रमाणित होता है कि इसको मोक्षका स्वरूप रुच गया है, लेकिन मोही पुरुषोंको मोक्षतत्त्वकी खबर भी यथार्थ नहीं है। इस तरह मोक्षतत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत विश्वास हो, मूढ़दृष्टि हो, तो यों अन्तस्तत्त्वमें तत्त्वका श्रद्धान होना मूढ़दृष्टि है, ऐसी दृष्टि जिस जीवके नहीं होती है, ऐसे जीव को अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥५६०॥

ज्ञानीके कुदृष्टियों द्वारा मिथ्याहेतुदृष्टान्तसाधित अर्थके प्रति मोहका अभाव—अन्य दार्शनिकों द्वारा जिन्होंने स्याद्वादका आश्रय नहीं लिया, किसी एकान्तमें रहकर अथवा सांव्य-हारिक प्रत्यक्षसे ही सर्वस्व निर्णय कर अनेक हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्यास्वरूपकी दृष्टि की है और ऐसे विपरीत स्वरूपके प्रतिपादन करने वाले हजारों ग्रंथ भी मौजूद हों और कभी-कभी अपने समझे हुए वस्तुस्वरूपकी दृढ़ता करनेके लिए उनका अध्ययन करे, कोई बात भी सुने, तिसपर भी दर्शनमोहनीयका क्षय हो जानेके कारण, दर्शनमोहनीयका अनुदय हो जानेके कारण वह सब उपदेश इसे मोहित नहीं कर सकते। तो यह सब असद्उपदेश इस सम्यग्दृष्टि पुरुषको मोहित करनेमें समर्थ नहीं हैं। जैसे कि यहाँ किसीने आँखों ही कुछ देख लिया हो और उसके विपरीत कोई कुछ बात कहे तो उसको वह प्रमाणित कर ही नहीं सकता। यद्यपि यहाँ आँखों देखी बातमें भी कोई विपरीतता बन सकती है, जो समझा हो, पर प्रायः आँखों देखी बात बड़ी प्रमाणित मानी जाती है। कोई पुरुष अपनी आँखोंसे कोई घटना देख ले और उसके विरुद्ध कोई कुछ कहे तो उसको माननेके लिए वह राजी नहीं हो सकता। इसी प्रकार दर्शनमोहके अनुदय होनेपर अपने आपके उपयोग द्वारा विशुद्ध स्वरूपका, आनन्दका, ज्ञान-ज्योतिका जिसने साक्षात्कार कर लिया है उस पुरुषको अब कोई मिथ्या वस्तुका स्वरूप किसी तरह मोहित करनेमें कारण नहीं हो सकता।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥५६१॥

कुदृष्टिप्रदर्शित अर्थोंमें ज्ञानीके मुग्ध होनेकी असम्भवता—अनेक कुदृष्टि जनोंने, जिन्होंने आत्माके सहजस्वरूपका अनुमोदन नहीं कर पाया और जिस किसी भी परतत्त्वमें हित मान लिया, ऐसे कुदृष्टिजनों द्वारा सूक्ष्म, अंतरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कुछ उपदेश हुआ,

लेकिन जिनका मूल ही भ्रमपूर्ण है उनकी अनेक युक्तियाँ किस तरह समीचीनताको लिए हुए हो सकती हैं ? तो कुधी जनों द्वारा सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थोंको भी किसी रूप बताया गया है, लेकिन उनमें भी यह सम्यग्ज्ञानी जीव मोहित नहीं होता। जो थोड़ी भी सत्य जानकारी रखता हो, वह उन कथनोंमें मुग्ध न होगा। सूक्ष्म पदार्थोंके सम्बन्धमें अतत्त्वज्ञ पुरुषों ने वर्णन किया है—जैसे शक्त्यांशको ही परमाणु मान लेना। आजकलके वैज्ञानिक लोग शक्त्यांशको अणु मान रहे हैं और जिसे अणु समझ रहे हैं और जिससे काम ले रहे हैं वह स्कंध है। कहाँ तो अनेक परमाणुओंके पिण्डको अणु समझ लेना और कहाँ किसी केवल शक्तिको ही अणु मान लेना ये सन्देह तुलापर चलती हुई धारणायें, ये सूक्ष्म तत्त्वके बारेमें विपरीत श्रद्धान हो तो है। अथवा केवल सूक्ष्म तत्त्वोंके कारण क्या हैं ? किससे भिन्न हैं, किससे अभिन्न हैं, इसका कुछ निर्णय न करके जैसा कुछ विकल्पमें आया बोल दिया, यह सूक्ष्मका विपरीत कथन है। अन्तरित राम, रावण आदिक हुए हैं और अनेक कथानक ऋषि संतोंने गढ़े हैं, वे अंतरितके बारेमें आख्यान हैं। उन्होंने बहुतसी असम्भव बातोंको भी कथानकके रूपमें गढ़ लिया है और जिन्हें यह कहकर छोड़ दिया गया है कि ईश्वर और उनके अवतारोंकी लीलायें हैं। उन कथनोंमें परस्पर विरोध भी जंचता है। कभी कह दिया कि रावण बड़ा विद्वान था, तत्त्वज्ञ था, कुशल था तो कहीं ऐसा कह दिया कि वह तो राक्षस था, मांसभक्षी था। इस तरह परस्पर विरुद्ध और असम्भव कथानक रचना, यह सब तो विपरीत प्रतिपादन है। दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें जैसे १४ भुवन हैं अथवा अनेक यत्र-तत्र द्वीपोंकी रचनायें बताना, इस तरह दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें भी विपरीत प्रतिपादन है, इस सबको सुनकर सम्यग्दृष्टि जीव उन कथानकोंमें मुग्ध नहीं होता।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढ़ता।
सूक्ष्मामन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेस्य कुतो भ्रमः ॥५६२॥

अर्थाभासमें भी मूढ़ न हो सकने वाले जीवके मिथ्यार्थमें भ्रमकी नितान्त असंभवता— सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जहाँ कहीं अच्छे कथनके बीचमें भी कोई कथन अर्थाभास वाला जंच रहा हो वहाँ ही मुग्ध नहीं होता तब फिर आगमप्रसिद्ध जो कुछ सूक्ष्म अंतरित आदिक पदार्थों के सम्बन्धमें वर्णन हुआ उनमें मुग्ध क्या होगा ? अथवा अन्य पुरुषोंके द्वारा बताये गये जो आभासरूप कथन हों उनमें भी क्या मुग्ध हो सकेगा ? यों सम्यग्दृष्टि पुरुष अतत्त्वश्रद्धानसे दूर रहता है और अपने आपके स्वरूपके विषयमें निःशंकित होकर यथार्थ प्रतीति बनाये रहता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके अमूढ़दृष्टि अंगका कुछ स्वरूप बताकर अब आगे यह बतायेंगे कि किस-किस प्रकारके विचारोंमें अपना सम्यग्दर्शन बनाये रहता है जिन विचारोंके द्वारा ज्ञानी अपने उद्दिष्ट मार्गकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ता जाता है।

तद्यथा लौकिकी रूढ़िरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता कुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥५६३॥

अनिष्टफलप्रदा लौकिकी रूढ़िकी निःसार पुरुषों द्वारा आश्रितताका ज्ञानी द्वारा चिन्तन—सम्यग्दृष्टिको अमूढ़दृष्टिका वर्णन चल रहा है। मूढ़दृष्टि न होना उसको अमूढ़दृष्टि कहते हैं। तो मूढ़दृष्टि किन-किन कारणोंसे होती है, उनमें से एक कारण यह भी है कि लोग लौकिकी रूढ़िमें अंधे बन जाते हैं। जो अपने कुलमें रूढ़ि चली आयी है, समाजमें, देशमें रूढ़ि चली आयी है उसको छोड़ सकना कठिन है, क्योंकि उस ही आचरण परम्परामें जन्मसे चले आये हैं, ऐसी-ऐसी रूढ़िके वश होकर भी मूढ़दृष्टि बन जाया करती है। तब सम्यग्दृष्टि जानता है इस मर्मको कि लौकिकी रूढ़ि नाना विकल्पोंसे भरी होती है और इस रूढ़िमें आत्माके हितका कोई प्रकाश नहीं मिलता है। इस लौकिकी रूढ़िको तो निःसार पुरुष करते रहते हैं। निःसार पुरुष उनका नाम है जिनको अपने आपके शरणभूत निज परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं हुआ और इस ही कारण बाहरी पदार्थोंमें ही जो एक लगनसे लग जाते हैं वे पुरुष सारहीन हैं उनके आत्मामें कोई वजनदार सारभूत तत्त्व नहीं रहा कि जिसके बलपर वे वास्तविक तृप्त हो सकें, इस कारणसे वे सारहीन पुरुष कहलाते हैं। तो लौकिकी रूढ़िको तो सारहीन पुरुष ही कर सकते हैं जो कि अनिष्ट फलको देने वाली है। रूढ़िमें आकर कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मुझे पुण्य होगा, धर्म होगा, सुख-शान्ति होगी, पर उन रूढ़ियोंके चक्रमें फंसे हुए, प्रवृत्ति करने वाले लोग सुखके बजाय दुःख पाते हैं, धर्मके बजाय अधर्म पाते हैं, पुण्यके बजाय पापका बंध करते हैं। इस कारण लौकिकी रूढ़ि अनिष्ट फलके देने वाली है और इनको सारहीन अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन धारण करते हैं।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढ़िः कैश्चिदुष्कर्मपाकतः ॥५६४॥

अफला अनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी लौकिकी रूढ़िकी दुष्कर्मपाकवश अज्ञानी जनों द्वारा दुस्त्याज्यता—सम्यग्दृष्टिकी विचारधारा चल रही है। जो लौकिकी रूढ़ि है वह फलरहित है। फल क्या होना चाहिए, कौनसा फल इस जीवके लिए हितकारी है? वह है मोक्षफल, आत्मसंतोष, आत्मरमण। यह फल लौकिकी रूढ़िसे कैसे मिल सकता है? क्योंकि लौकिकी रूढ़ि फलरहित है, और फल भी है उसका तो अनिष्टफल है, संसारपरिभ्रमण करना, कुयोनियोंमें जन्म मरण करना, ऐसा फल प्राप्त होता है तथा वह हेतुशून्य है। क्यों हो रहा है? उसका कारण क्या है? उसका उद्देश्य क्या है, वे सब बातें वहाँ गायब हैं। लौकिकी रूढ़ि इस तरह चलती जिसके मर्मका कुछ पता नहीं, किन्तु जो वर्तमान प्रथा हो उसमें शामिल

हो जाते । तो जिन रूढ़ियोंमें कोई हित नहीं है, कोई युक्ति नहीं, कोई फल नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, ऐसी लौकिकी रूढ़ि, जो पाप अभिप्राय वाले जीव हैं, जिनको खोटे कर्मोंका उदय आ रहा है उनके द्वारा ये त्यागे नहीं जा सकते हैं, वे उस रूढ़िमें आकर अपना अनर्थ कर डालते हैं। अनेक लौकिक रूढ़ियाँ ऐसी भी हैं कि जिनका मूल स्रोतमें प्रयोजन रहा, यह रूढ़ि जबसे निकली, जिस कालमें बनी उस कालमें तो उसका कोई मर्म था, लेकिन धीरे-धीरे मर्म तो लोगोंके हृदयसे निकल गया और उस रूढ़िमें जो कुछ किया जा रहा है उसमें ही पक्ष रहेगा। अनेक रूढ़ियाँ ऐसी होती हैं। जैसे कि एक कथानक प्रसिद्ध है कि किसी सेठके यहाँ उसकी ही लड़कीका विवाह था। उसके घर एक बिल्ली पली हुई थी, सो बिल्लीका इधर-उधर फिरना, ऐसे शुभ काममें अपशकुन माना जाता है, इसलिए भांवर पड़ते समय उस बिल्लीको टिपारेके अन्दर बंद कर दिया। अब शादी हो चुकनेके बाद वह सेठ तो गुजर गया। जब उसके लड़के की लड़कीकी शादीका नम्बर आया तो भांवर पड़ते समय उस सेठका एक लड़का बोल उठा—अजी ठहरो, भांवर यों न पड़ेगी। पहिले एक बिल्ली कहींसे पकड़कर लाओ, उसे टिपारेके अन्दर बन्द करो तब भांवर पड़ेगी। सो जब कहींसे बड़ी मुश्किलमें बिल्ली पकड़कर उसे टिपारेके अन्दर बंद किया गया तब भांवर पड़ी। अब बतलाओ बिल्लीको टिपारेके अंदर बन्द करनेका प्रयोजन तो कुछ और था, पर समझ लिया कुछ और, इससे वह एक विडम्बना रूप बन गई। ऐसी एक नहीं, अनेक बातें हैं, जिनमें बात तो मर्मकी (प्रयोजनकी) कुछ और होती है, पर उसका मर्म न जानकर लोग रूढ़िवश उन्हें करते रहते हैं, जो कि विडम्बनाका रूप रख लेती हैं। इस तरह रूढ़िवश किए जाने वाले बहुतसे पर्व आते हैं जो कि ये दुष्कर्म इन पापी लोगोंके द्वारा छोड़े नहीं जाते हैं। ऐसी मिथ्या रूढ़ियोंमें फंसकर लोग मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥५६५॥

देवमूढ़ता, धर्ममूढ़ता व गुरुमूढ़ताका लक्षण—लौकिकी रूढ़िकी वजहसे और उस ही के संस्कारके पले हुए लोगोंके कुछ समझानेकी वजहसे लोगोंको अदेयमें देवकी बुद्धि हो जाती है, अधर्ममें धर्मकी बुद्धि हो जाती है और अगुरुमें गुरु बुद्धि हो जाती है, यह कहलाती है देव-मूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता। जो देव नहीं उनमें देवबुद्धि होना उसे कहते हैं देव-मूढ़ता अथवा यों कहो कि देवमें कुदेवबुद्धि पैदा करना सो देवमूढ़ता है। कुदेवमें देवबुद्धि करना, ऐसा शब्द कहनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है और अदेवमें देवबुद्धि करना, इसमें केवल एक भक्तमें अपराध सिद्ध होता है। उसका विवरण यों है कि कुदेव कौन कह-लाता? जो देव तो नहीं है, किन्तु अपने आपको देवपना सिद्ध करनेका यत्न करता है उसे

कहते हैं कुदेव । तो जिसे कुदेव कहा गया उसमें भी अपराध बना, क्योंकि देव तो था नहीं और अपने आपको यह साबित कर रहा कि मैं देव हूं, भगवान हूं, तो ऐसा जो अपने आपको देवपनेकी कुछ चेष्टा करे उसका तो नाम है कुदेव और ऐसे कुदेवमें देवबुद्धि करना, सो देव-मूढ़ता है । इसमें जिसने देवबुद्धि की उस भक्तका भी अपराध हुआ तथा जिसने अपनेमें देवत्व-ख्यातिकी चेष्टा की उसका भी अपराध हुआ, किन्तु अदेवमें देवबुद्धि करना, इसमें देवबुद्धि करने वाले उस भक्तका ही अपराध है । यदि वह अदेव स्वयं अपने आपमें देवत्वख्यातिकी चेष्टा नहीं कर रहा और किसीने उसे देव मान लिया तो वहाँ तो उसने कुदेवपना जाहिर करनेका अप-राध तो नहीं किया । तो जो अदेवमें देवबुद्धि करें, ऐसे जो मूढ़ पुरुष हैं उनका ही अपराध बताया जा रहा है । उनके सम्यग्दर्शन कैसे हो सकेगा जो अदेवमें देवबुद्धि करते हैं ? इसी प्रकार जो धर्म नहीं है अथवा जो अधर्म है उसमें धर्मबुद्धि करना, यह कहलाता है धर्ममूढ़ता और जो कुगुरु जन हैं उनमें गुरुबुद्धि करना, यह है पाखण्डमूढ़ता । यहाँ भी इसी प्रकार जानना कि कुगुरुमें गुरुबुद्धि करना, ऐसा कहनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है । कुगुरु वह कहलाता है जो गुरु नहीं है, किन्तु अपनेको गुरु प्रसिद्ध करनेके लिए कोई चेष्टा रख रहा हो और अगुरु वह कहलाता है जो गुरु नहीं है, तो कुगुरुमें गुरुबुद्धि होना, ऐसा वर्णन करनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है और अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, इसमें एकान्ततः भक्तका अप-राध तो सिद्ध होता ही है, इस तरह देवमूढ़, लोकमूढ़ और पाखण्डमूढ़ लोकरूढ़िवश भी होते हैं और लोकरूढ़िमें फसे हुए लोगोंके उपदेश द्वारा भी बनते हैं ।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता ।।५९६।।

लोकमूढ़तावश ऐहिक सुखके लिये दुर्बुद्धियों द्वारा कुदेवोंका आराधन—उक्त जो तीन प्रकारकी मूढ़तायें बतायी गई हैं उन सबको लोकमूढ़तामें शामिल किया जा सकता है, और लोकमूढ़ताका सम्बन्ध रूढ़िके साथ है । तो लोकरूढ़िके वर्णनके प्रसंगमें यहाँ इन तीन मूढ़ताओंको दिखाया जा रहा है । मिथ्यादृष्टि जीव सांसारिक सुखोंको पानेके लिए कुदेवकी आराधना करते हैं । जिनको अपने आपके स्वरूपमें आनन्द स्वयं बसा हुआ है अथवा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूपसे रचा हुआ है, ऐसे अमूर्त कारणपरमात्मतत्त्वकी सुध नहीं है, ऐसे पुरुष, सुख-शान्ति तो सब चाहते ही हैं, पर वे उस सुख-शान्तिको ढूंढेंगे कहाँ ?""इन विषयोंमें । सांसारिक सुखोंमें ये सुखबुद्धि करते हैं तो उन सुखोंकी चाहसे कुदेवकी आराधना करते हैं । ये मुझे कुछ दे देंगे, पर कुदेव और देव भी क्या ? कोई किसीको सुख-दुःख देनेमें समर्थ नहीं हैं । यह स्वयंके पुण्य-पापके उदयका फल है । जिससे लोगोंको सुख अथवा दुःख प्राप्त होते हैं, और पुण्य-पापसे रहित शुद्ध अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रहे तो वहाँ शान्ति प्राप्त होती

है, लेकिन ये मोही पुरुष कुदेवकी आराधना सांसारिक सुखके लिए करेंगे, क्योंकि उन्होंने न देवका स्वरूप जाना, न अपने आत्माका। तो कुदेवकी आराधना मिथ्यादृष्टि जन ऐहिक सुखों के लिए किया करते हैं, ऐसा करना मिथ्या है, लोकोपचार है, उससे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती। यदि कोई कुदेव कोई लक्ष्मी दे जाय तब फिर कोई व्यापारादिक कार्य ही क्यों करे? और यदि कुदेवकी आराधनासे लक्ष्मी प्राप्त होती तब तो फिर सभी लोगोंको यही एक काम करना चाहिए था, फिर तो व्यापार आदिक कार्य करनेकी आवश्यकता ही न थी। ये व्यापार आदिकके कार्य करके भी मिथ्यादृष्टि जन ऐसा विश्वास रखते हैं कि यह देव अथवा देवी मुझे धन देगी, मुझे व्यापारादिकके कार्योंमें मदद करेगी, मुझे संतान देगी, मुझे सब प्रकारके सुख साधन देगी, मेरी बुद्धि ठीक रखेगी····यों अनेक प्रकारकी कुबुद्धियाँ लोग रखते हैं, और इन्हीं कुबुद्धियोंके कारण वे उनकी आराधना किया करते हैं। कदाचित् कोई पुरुष तीर्थंकर देव भगवान जिनेन्द्रकी मूर्तिके समक्ष भी सांसारिक सुखोंकी आशासे उनकी आराधना करे तो समझो कि उसने भी उस देवको कुदेवरूपमें मान डाला। उसे तो प्रभुके सही स्वरूपका पता ही नहीं है। वह तो यही जानता है कि ये भगवान हमें संतान दे देंगे, धन-दौलत दे देंगे, हमारा मुकदमा जिता देंगे···, इस प्रकारकी अनेक कुबुद्धियोंरूपमें उसने उस सच्चे देवको भी खोटे रूपमें मान डाला। उसकी दृष्टि वहाँ उन्हीं कुदेवोंके स्वरूपकी भाँति ही रहेगी। इन कुदेवोंकी आराधना सांसारिक सुखोंके लिए मिथ्यादृष्टि जन किया करते हैं। तो ऐसे ही कुदेवाराधनादिक लोकोपचार करनेका नाम लोकमूढ़ता है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढ़वशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥५६७॥

लोकमूढ़ पुरुषों द्वारा कुश्रद्धावश अम्बिकादि देवियोंका आराधन—लोकमूढ़ताके इस प्रकरणसे अपने आपको यह समझ लेना चाहिए कि हम आप कितने ही दंद-फंदोंसे निवृत्त हो चुके हैं। हम आपको अच्छी बुद्धि मिली, पवित्र जैनशासनका शरण मिला, सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी शरण मिली, यह हम आपके लिए कितने सौभाग्यकी बात है? कदाचित् ये उत्तम चीजें हम आपको न मिली होतीं तो अन्य मोही मलिन जीवोंकी जैसी ही दशा तो हम आपकी होती। अपने आपके इस वर्तमान प्रकाशपर सही दृष्टि डालें तो बड़ा संतोष होगा। हम आपको अच्छा क्षयोपशम प्राप्त है, इन लौकिक मूढ़ताओंसे परे हमारी वृत्ति चल रही है और इस ही निजके ज्ञानप्रकाशके लिए साधन भी उत्तम मिले हैं। यह वर्तमान अवस्था हमारे संतोषके लायक है, मगर संतोष करनेमें लाभ नहीं है, यहाँ हमें असंतोष होना ही चाहिए कि हम अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें मग्न नहीं हैं। यदि ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो जाते तो फिर कहीं कोई कष्ट न था। तो लोकमूढ़तासे हम बच गए हैं, यह एक बहुत बड़ी विडम्बना हम आपने

समाप्त कर लो। लोकमूढताके सम्बन्धमें कह रहे कि उसके वश होकर किसी किसीका ऐसा विश्वास हो गया है कि यदि हम भली प्रकारसे अम्बिका, चंडी, मुंडी आदिककी आराधना करें तो वे देवियाँ निश्चयसे धन-धान्य, सम्पदा आदिक प्रदान करेंगी। यह लोकरूढ़ि, यह लोकमूढ़ता ऐसा विवश कर देती है मनुष्यको कि जिससे वे सही मार्गसे भी हटकर कुमार्गमें लग जाते हैं। बहुतसे जैन लोग भी ऐसी लोकमूढ़तामें जकड़ जाते हैं कि वे यक्ष, लक्ष्मी, धरणेन्द्र, पद्मावती आदिककी आराधना इस दृष्टिसे करते हैं कि इनकी आराधना करनेसे हमें सुख शान्ति प्राप्ति होगी, धन-सम्पदा आदिकी प्राप्ति होगी…। तो लोकमूढ़ताका इतना विकट जकड़ाव है कि कुछ ऐसा चाहता हो कोई कि मुझे मिथ्यात्वका दोष न लग जाय और चाहता है धन सम्पदा आदिक, तो इस तरह भी वह कुदेवकी आराधना समझना चाहिए।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥५६८॥

अज्ञानियोंकी सदोष देवोंमें निर्दोषत्वबुद्धि—उक्त कुछ श्लोकोंमें लोकमूढ़ताका चित्रण किया गया है। इसी प्रकार और भी बहुतसे देवोंको अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मान रखा था। उन देवताओंके नामका कोई गिनतीका प्रमाण नहीं है। कुछ भी कह दें। कुछ भी देवी देवका नाम लेकर उसे मान लिया। कोई देवी देव बना तो नहीं सकता लेकिन किसी घटनावश किसी भी जगह किसी भी देवी देवका नाम रखकर उसकी आराधना करने लगते हैं। तो ऐसे अनेक प्रकारके लोग अपनी इच्छाके अनुसार देवोंको मान डालते हैं तो वे अपनी अज्ञानताके कारण सदोष देवोंको भी निर्दोष मान बैठते हैं और उनके प्रति ऐसी श्रद्धा होती है जैसी कि योगीश्वरोंको वीतराग सर्वज्ञदेवके प्रति ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती है कि वह निर्दोष है। स्वरूपकी दृष्टि रखकर तो वे निर्दोषता नहीं परखते, किन्तु उनकी ऐसी ही दृष्टि रहती कि ये जो हैं सो ही भगवान हैं और जो कुछ कर सकेंगे सो ये ही कर सकेंगे।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥५६६॥

कुदेवस्वरूप वर्णन विस्तारकी अनावश्यकता—यह प्रसंग ऐसा है कि यहाँ लोकमूढ़ता गृहीतमिथ्यात्व आदिकके सम्बन्धमें अधिकसे अधिक वर्णन कर देना चाहिये था, लेकिन ग्रंथकार यहाँ यह कहते हैं कि कहीं ऐसा न हो जाय कि पूर्व पक्ष तो बहुत विस्तारसे कहने लग जायें तो लोग इससे कुछ अनर्थ न कर लें, इस कारणसे इस प्रसंगको आगे न बढ़ाकर मिथ्या विचार वालोंको कुछ उपदेश कर रहे हैं। यद्यपि प्रसंग तो था कि खूब कह डालना चाहिये था ताकि लोगोंको भली-भाँति पता पड़ जाय कि यह कितनी बड़ी विडम्बना है, लेकिन एक मर्मकी बात कह देनेसे बुद्धिमानोंको उसका पता पड़ जाता है, इस कारण अधिक नहीं कहा

जा रहा है, और मूलमें हमको यदि देवका स्वरूपका जानना है तो देवस्वरूपके विपरीत जो कुदेव आदिक हैं उनका हम विस्तार क्यों करें ? एक लक्षण बाँधकर कह दिया कि जिनमें वीतरागता नहीं, जिनमें सर्वज्ञता नहीं, जो इच्छायें करने वाले हैं, जो नाना खटपट करते हैं, जिनके मोह बना हुआ है, ऐसे पुरुषोंको अगर देवत्व जाहिर करें तो वे सब कुदेव हैं। जहां ज्ञान और आनन्दका पूर्ण विकास न पाया जाय उसे देव नहीं कहते हैं। ऐसे अदेवमें देवबुद्धि करना, सो देवमूढ़ता है। और इसी तरह रागद्वेषमें बसे हुए, व्यर्थकी मन, वचन, काय आदिककी चेष्टायें करने वाले गुरु, कुगुरु कहलाते हैं। उनमें हितबुद्धि न रखना सो ही मूढ़दृष्टि कहलाती है। तो यहाँ कुदेवके स्वरूपके कहनेकी आवश्यकता विशेष न जानकर अथवा कुदेव स्वरूपका विस्तार आवश्यक न समझकर इस स्थलको यहीं समाप्त करते हैं और संक्षेपमें बताते हैं कि जिनके वीतरागता नहीं, सर्वज्ञता नहीं वे भी अदेव हैं और जो वीतरागता, सर्वज्ञताके मार्गमें नहीं चल रहे वे अगुरु हैं, उनमें हितबुद्धि करना सो मूढ़दृष्टि है।

अधर्मस्तु कुदेवानां यावनाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥६००॥

कुदेवाराधनोद्यमकी तथा कुदेवप्रणीतधर्ममें मन, वचन, काय चेष्टाकी अधर्मरूपता—

अदेवमें देवबुद्धि करना देवमूढ़ता है, इसका वर्णन करनेके बाद अधर्ममें धर्मबुद्धि करना भी धर्ममूढ़ता है, इस प्रसंगका वर्णन अब कर रहे हैं। कुदेवकी आराधनाका जितना भी उद्यम है वह सब अधर्म है अथवा उन कुदेवोंके द्वारा, गुरुओंके द्वारा प्रणीत हुए धर्मोंमें जो मन, वचन, कायकी चेष्टायें हैं उनका काम भी अधर्म है। कुदेव और कुगुरुका अभिप्रायविशुद्ध नहीं है, रागद्वेषसे भरा है। जगतमें अपनेको देव और गुरु जाहिर करके अपनी ख्याति, पूजा, लाभ आदिकको चाह रहे हैं, ऐसे पुरुषोंके द्वारा जो कुछ भी शासन बनाया जायगा वह निर्दोष नहीं हो सकता। तो ऐसे सदोष वचनोंमें अधर्ममें कोई धर्मबुद्धि करे अथवा उस धर्मादिशके अनुसार जो कि कुधर्म है, उसकी आज्ञानुसार जो अपने मन, वचन, कायकी चेष्टायें करे वह सब अधर्म कहलाता है। कुदेवका नमस्कार, पूजन, वंदन करना, कुगुरुका आदर, पूजन, वंदन करना ये सब अधर्म कहलाते हैं। और उन्होंने जो मार्ग बताया है, यज्ञ करना, बलि करना अथवा जो कुछ भी आदेश किया है अथवा मन, वचन, कायसे जो कुछ भी आदेश किया है सो अधर्म है। जैसे पीपल आदिक वृक्षोंका पूजना, गाय आदिक पशुओंका पूजना आदिक कितनी ही लोकरूढ़ियाँ बन गई हैं उन सबमें जकड़े हुए लोग जो मन, वचन, कायकी चेष्टायें करते हैं वे सब अधर्म कहलाते हैं। ऐसे अधर्ममें धर्मबुद्धि करनेका नाम है धर्ममूढ़ता। ऐसी मूढ़ता जहाँ नहीं होती है वहाँ सम्यक्त्वका प्रकाश होता है।

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यत: ॥६०१॥

कुत्सिताचार सशल्य सपरिग्रह पुरुषकी कुगुरुरूपता तथा सम्यक्त्वव्रतयुक्त पुरुषकी सद्गुरुरूपता—जिसका मलिन आचरण है, जो शल्यसहित है, परिग्रहवान है उसे कुगुरु कहते हैं। इस कुगुरुका लक्षण सुगुरुके लक्षणके जाननेसे स्पष्ट होता है, तब सुगुरुका लक्षण भी समझ लेना चाहिए। सुगुरु होता है सम्यक्त्वसे सहित और व्रतोंसे भी युक्त है। तो जिसमें सम्यक्त्व नहीं है और व्रत भी नहीं है तथा इसी कारण मलिन आचरण है उस आचरणसे वह शल्यवान है, मूर्छा सहित है, उसे कुगुरु कहते हैं। कुगुरुका आचरण मलिन है, इसका अर्थ है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूपसे उसकी प्रवृत्ति चलती है। शल्यवान है, इसका भाव यह है कि कुगुरुमें माया, मिथ्या और निदान ये तीनों ही शल्यें लगी हुई हैं। मायाचार तो यही है कि जो वास्तविक मोक्षमार्ग है उस ओर उसकी दृष्टि नहीं गई है और इसी कारण बाह्य व्यवहारमें उसकी मन, वचन, कायकी सरल चेष्टायें नहीं हो सकती हैं। मिथ्या शल्य यों है कि वस्तुके सही स्वरूपका जब परिज्ञान नहीं है तो अन्य-अन्य प्रकारसे वस्तुस्वरूप जाना जा रहा है, और इस स्थितिमें इस आत्माके शल्य होना स्वाभाविक ही है। मिथ्या परिचयके कारण अज्ञानरूपी शल्य तो निरन्तर बनी ही रहती है, जिसके कारण विपत्तियाँ आती रहती हैं। निदानशल्य कुगुरुमें पायी ही जा रही हैं। वे गुरुपदमें भी इन्द्रादिक पदोंकी चाह रखते हैं, सांसारिक सुखोंकी चाह रखते हैं। इस तरह कुगुरु शल्यवान हैं, परिग्रहसहित हैं, यह बात यों स्पष्ट है कि जब कि आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप दर्शनमें नहीं आया है तो अपने आपमें मूर्छायें होना प्राकृतिक है। स्वयं बेहोश है और इस बेहोशीमें बाह्य पदार्थों को अपना मानता है। कषायोंमें, अपने ज्ञानविकासमें जैसी जो कुछ लौकिक बुद्धि हुई है उसको भी समझता है कि यह मात्र मेरा स्वरूप है। और बाह्य परिकर, शिष्य, वैभव, ऐश्वर्य, सम्पदा आदिकमें मूर्छाबुद्धि रख रहा है तो वह परिग्रहवान ही है। इस तरह कुगुरु तो निंद्य आचरण वाला है जब कि सुगुरु शुद्धव्रत रूप आचरण वाला है। कुगुरु शल्यवान है जब कि सुगुरु अत्यन्त निःशल्य है। कुगुरु परिग्रहवान है जब कि सुगुरु अपने शुद्ध सहजस्वरूपके परिचयके कारण निष्परिग्रह है। साथ ही इस सुगुरुमें तो सम्यक्त्व सम्बन्धी विशेषता तो अपूर्व ही है, पर कुगुरुमें सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं है, और उस सुगुरुमें शुद्ध सम्यक्त्व प्रकाशमान है। इस तरहसे कुगुरुके स्वरूपको भली-भाँति जानकर उसमें गुरुबुद्धि न रखनी चाहिए।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात्।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः ॥६०२॥

कुधर्म और कुगुरुके स्वरूपवर्णनविस्तारकी अनावश्यकताका सहेतुक कथन—कुगुरुके

सम्बंधमें थोड़ा ही वर्णन करना पर्याप्त है, क्योंकि कुधर्म अथवा कुगुरु इनकी बुद्धिमें अधिक लगना लाभकारी यों नहीं है कि जानना है धर्म, देव, गुरु। उनके स्वरूपको विशेष रूपसे समझ लेवें वे अदेव हैं, कुगुरु हैं, कुधर्म हैं, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध हो जायगी। तो श्रद्धा जहाँ जमानी है, जिस स्वरूपसे लगन लगानी है उसका वर्णन अधिक करना लाभकारी है और फिर कुगुरु आदिकके वर्णनका विस्तार करना कोई उपयोगी नहीं है। सारांशमें इतनी बात जान लेनी चाहिए कि इस ग्रन्थमें जो विधि कही गई है वही ग्रहण करने योग्य है और जो उसमें बताया है वह हेय है। यहाँ सुगुरु देवका विस्तारपूर्वक वर्णन होगा। वह तो आदेय है, उसके अतिरिक्त विभिन्न स्वरूप वाले जो गुरु आदिक हैं उन्हें त्यागना योग्य है। तो जो उपादेय तत्त्व है उसका ही यहाँ वर्णन किया जाना विशिष्ट रूपसे अभीष्ट है।

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणकर्म तत्।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥६०३॥

दोष और आवरणके अभावमें ही देवताकी सिद्धि—अब सच्चे देवके स्वरूपका वर्णन चलेगा। जिसके सम्बंधमें यहाँ लाक्षणिक दृष्टिसे कहा जा रहा है कि जहाँ दोष और आवरण न हो उसे देव कहते हैं। लेकिन दोष नाम है रागादिकके सद्भावका। आत्मामें रागद्वेषादिक विकार ही दोष हैं। निर्दोष होनेमें ही भलाई है, और दोषवान रहनेसे ही अकल्याण है। इसी दोषके कारण यह जीव अब तक अनादिसे परिभ्रमण करता चला आया है। यह दोष हेय है। यह दोष जहाँ नहीं है उस ही को भगवान कहते हैं। दूसरी चीज बतायी गई है आवरण कर्म। यद्यपि यह आवरणकर्म चेतन है, पौद्गलिक है, भिन्न स्वरूप है, इसका अधिकरण भी आत्मा नहीं है तो भी दोष और अज्ञानकी उत्पत्तिमें यह आवरणकर्म कारण है। तो ये भी हेय हैं और दोष जहाँ नहीं है वहाँ यह सिद्ध है कि आवरणकर्म भी वहाँ नही है। तो जहाँ आवरणकर्म और रागादिक दोष नहीं होते हैं, उनका जहाँ सम्पूर्ण अभाव हो गया है वही देव कहा जाता है। तो देवके स्वरूपमें मुख्यतया चिह्न यह देख लेना चाहिए कि जहाँ रागद्वेषादिक विकार कतई नहीं हैं, वीतरागता है वह तो देव होता है। जहाँ वीतरागता नहीं है. रागादिक पाये जा रहे हैं वह देव नहीं है। जहाँ रागादिक नहीं रहते वहाँ अन्तर्मुहूर्तमें ही सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। तो आवरणकर्म नहीं हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि यह देव सर्वज्ञ है। तब देवके स्वरूपको इन दो चिह्नोंसे पहिचानना चाहिये कि जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो उसे देव कहते हैं।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम्।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥६०४॥

सुदेवमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति व अनन्तआनन्दका सद्भाव—देवमें

अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है। अनन्तचतुष्टय नाम है चार अपूर्व वैभवोंका। भगवानमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य पाया जाता है। उनके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो गया है। केवलज्ञानके द्वारा तीन लोक-अलोक और स्वद्रव्य भली-भाँति शुद्ध स्पष्ट ज्ञात होते रहते हैं। केवलज्ञान भी ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट हो जाता है। जहाँ सर्वपदार्थों का परिज्ञान है वहाँ कुछ जाननेकी इच्छा हो ही नहीं सकती है। इच्छा, रागद्वेष नष्ट हो चुके थे तब ही तो केवलज्ञान हुआ है। केवलदर्शन, केवल दर्शनावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होता है। केवलज्ञानके द्वारा समस्त लौकिक जनोंका ऐसा परिपूर्ण ज्ञाताद्रव्यका प्रतिभास होना चेतनमें यह सम्पूर्ण ज्ञान आया, उसे केवलदर्शन कहते हैं। क्षायिक सुख नाम है इन घातियों कर्मोंका क्षय हो जाना अथवा मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेसे जो आत्मामें आत्मासे उत्पन्न हुआ सहज आनन्द है, जो कि अनन्त है, अविनाशी है, जिसकी उपमा किसी सांसारिक सुखसे नहीं की जा सकती है, ऐसा अनन्त आनन्द जहाँ प्रकट हुआ है उसीको देव कहते हैं। यों जहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तआनंद प्रकट हुआ है तो इससे ही सिद्ध होता है कि उनमें अनंतशक्ति है। अनन्तशक्ति हुए बिना अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्दका धारण नहीं हो सकता। तो वीर्यान्तिराय कर्मके क्षय होनेसे ये अनन्त शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इस प्रकार देव में केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य—ये चारों अनन्तचतुष्टय प्रकट हो जाते हैं।

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥६०५॥

विवक्षानुसार देवकी एकविधता, द्विविधता व अनन्तविधता—उक्त सामान्य लक्षणसे जिस देवकी पहिचान करायी गई है वह देव सामान्यसे तो एक ही है, क्योंकि देवत्वका लक्षण जहाँ पाया जा रहा है वह देव कहलाता है। अब उस ही देवके व्यक्त विकासके भेदसे निरखने पर विदित होता है कि देव दो प्रकारके होते हैं, जिनको आगेके श्लोकमें बताया जायगा। वे दो प्रकार हैं—अरहंत और सिद्ध अर्थात् शरीर सहित परमात्मा और शरीररहित परमात्मा। जब सशरीर साधुने अपने आत्मामें ज्ञानसंयमनका उत्कृष्ट तपश्चरण किया है वही तो सर्वज्ञ बना है तो सशरीर साधु जब सर्वज्ञ बन गया है तो वह सशरीर भगवान कहलाता है। सशरीर भगवान होनेके पश्चात् यह शरीर टिक नहीं सकता। शरीरके कारणभूत घातिया कर्मों का क्षय हो जानेसे यह शरीर टिक नहीं सकता। उस समय यह शरीररहित हो जाता है। इसे कहते हैं सिद्ध भगवान। तो इस प्रकार अवस्थाभेदसे भगवान दो प्रकारके कहे गए और उनकी विशेष रचनाकी दृष्टिसे वे तीर्थंकर हुए हैं, सामान्य केवली हुए हैं अथवा अमुक-अमुक क्षेत्रसे सिद्ध हुए है आदिक अनेक रचनाओंके भेदसे देव संख्याते प्रकारके कहे गए हैं और जब

प्रभुके अनन्त गुणोंकी दृष्टि करते हैं तो प्रभु अनन्त प्रकारके कहे गए हैं। इस तरह विवक्षा-भेदसे देवोंके भेद अनेक प्रकारोंमें समझे जा सकते हैं, फिर भी देवोंका जो मूल स्वरूप है उस स्वरूपदृष्टिसे देव एक ही प्रकारका है।

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धेः शुद्धात्मलब्धितः।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायर्थाद्द्विधा मतः ॥६०६॥

सुदेवकी एकविधता व द्विविधताका प्रकाशन—देव एक प्रकारका है, यह विदित होगा सद्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे, क्योंकि उस मूल द्रव्यको निरखते हैं और वहाँकी अनन्त चतुष्टयात्मक सिद्धता विदित होती है तो वह एक प्रकारका समझा जाता है। वही देव पर्यायार्थिक दृष्टिसे दो प्रकारका कहा गया है—अरहंत और सिद्ध। अरहंत और सिद्ध इन दो शब्दोंका अर्थ है कि जो पूज्य हो सो अरहंत है। अरह धातु पूजा अर्थमें आयी है और उससे अरहंत शब्द बना है। तो अरहंत पूज्यको कहते हैं। सिद्ध उसे कहते हैं जिसका पूर्ण विकास सिद्ध हो गया है। नोकर्म और अघातिया कर्मका भी सम्बन्ध नहीं रहा है। ऐसी परिपूर्ण विकास वाली अवस्थामें जहाँ कोई और दोष नहीं रहे, बाहरी संपर्क भी नहीं रहा उसे कहते हैं सिद्ध। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे देवोंके दो प्रकार कहे गए हैं।

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥६०७॥

अरहंत देवकी दिव्यौदारिक देहस्थता धौतघातिचतुष्टयता, ज्ञानदर्शनवीर्यानन्दाढ्यता व धर्मोपदेशकता—इस श्लोकमें अरहंत भगवानको विवरणके साथ जाना गया है कि प्रभु अरहंत दिव्य परमौदारिक शरीरमें स्थित रहते हैं। सिद्ध अरहंत ही होते हैं और अरहंत मनुष्य होते हैं। मनुष्योंके औदारिक शरीर होता है। तो उसमें खून, माँस, हड्डी आदिक महा-दुर्गन्धित वस्तुवें व्याप्त हैं। ऐसा देह तो साधु अवस्था तक था, किन्तु जब अरहंत अवस्था होती है तो यह औदारिक शरीर परम हो जाता है, वहाँ कुछ भी अपवित्रता नहीं रहती है। शुद्ध स्फटिक मणिकी तरह वह शरीर भी शुद्ध स्वच्छ हो जाता है। यही कारण है कि अरहंत भगवानके शरीरकी छाया भी नहीं पड़ती है। जैसे शुद्ध स्फटिककी मूर्ति हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, क्योंकि वह स्वच्छ है, इसी प्रकार जहाँ शुद्ध स्वच्छ परमौदारिक शरीर हो गया वहाँ भी फिर छाया नहीं होती। ऐसे दिव्य औदारिक देहमें अरहंतदेव स्थित हैं। अरहंत प्रभुने घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया था। चार घातिया कर्म जहाँ तक रहते हैं वहाँ तक अरहंत अवस्था प्रकट नहीं होती। इन चार घातिया कर्मोंमें प्रबल कर्म है मोहनीय। इस मोहनीयकर्मका विध्वंस तो चौथे गुणस्थानसे लेकर ७वें गुणस्थानके बीच कहीं भी हो जाता है। शेष तीन कर्मोंका अभाव (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका अभाव) १२वें गुण-

स्थानके अन्तमें हो जाता है। अब चार घातिया कर्मसे रहित सयोगकेवली भगवान बन जाते हैं। तो उनके चार घातिया कर्म नहीं रहे और यही कारण है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनंद करके वह युक्त रहता है। केवल ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे अनंतज्ञान प्रकट होता है, केवल दर्शनावरणके क्षयसे अनन्तदर्शन प्रकट होता है और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे समस्त अन्तरायके अभावसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है। ऐसा यह अनंत चतुष्टय-सम्पन्न घातियाकर्मसे रहित अरहंत भगवान धर्मके उपदेशक कहलाते हैं। जितना जो कुछ हमारा आज शास्त्रबोध है उसकी मूल धारा अरहंत भगवानसे प्रकट हुई है। प्रभुकी दिव्यध्वनिको समझा गणधर देवने और गणधरसे समझा आचार्यदेवने और उनसे फिर अन्य मुनियोंने समझा। इस तरहकी परम्परासे ये सब शास्त्र चले आ रहे हैं, तो वास्तवमें मूल धर्मोपदेश तो अरहंत प्रभु हैं।

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥६०८॥

सिद्धदेवकी देहनिर्मुक्तता, लोकाग्रसंस्थितता, ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतता व निष्कर्मता—इस श्लोकमें सिद्धदेवका स्वरूप कहा गया है। पहिले बताया गया था कि अवस्थाके भेदसे देव दो प्रकारके होते हैं तो सशरीर अवस्थामें जो देव हैं वे अरहंत कहलाते हैं और शरीररहित सिद्ध अवस्थामें जो देव हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। वे सिद्ध भगवान मूर्तिमान देहसे निर्मुक्त हैं और इन अष्टकर्मोंसे मुक्त हैं। जो अष्टकर्मोंसे मुक्त है वही देहमुक्त है अन्यथा तो इस जीवके अनादि काल लेकर जब तक सिद्ध नहीं है तब तक निरन्तर यह देह लगा रहता है। देह दो प्रकार की कही गई है—(१) सूक्ष्म और (२) स्थूल। सूक्ष्मदेह तो है तैजस और कार्माण शरीर और स्थूल देह है—औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर। यद्यपि आहारक शरीर भी अप्रतिघात है अर्थात् आहारक शरीरका प्रतिघात नहीं होता और वैक्रियक शरीर भी प्रतिघातरहित है। हाँ जब वह चाहता है प्रतिघात वाला शरीर तो प्रतिघात वाला भी रहता है, किन्तु औदारिक शरीर तो इससे भी स्थूल शरीर है, तो यह स्थूल शरीर तो कभी रहता कभी नहीं रहता। एक शरीरका वियोग होता है तो दूसरा शरीर मिलता है, लेकिन तैजस कार्माणरूप सूक्ष्म शरीर तो इस जीवके साथ निरन्तर रहता है। भगवान सिद्ध ५ प्रकारके शरीरोंसे रहित हैं, अष्टकर्मोंसे रहित हैं और ये प्रभु लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं। जब मुक्त होते हैं तो इस शरीरको छोड़कर ये प्रभु ऊर्द्धगमन करते हैं तो एक ही समयमें लोकके अन्त तक पहुंच जाते हैं। यों ये प्रभु लोकके अग्रभागमें स्थित हैं। लौकिक रूढ़ि भी इसी बातको पुष्ट करती है कि परमदेव तो लोकके अग्रभागमें अवस्थित है, क्योंकि जो भी प्रभुकी याद करता है वह अपना सिर ऊपर की ओर उठाकर याद करता है। ये प्रभु ज्ञानादिक अष्ट

गुणोंसे युक्त हैं। उन अष्ट गुणोंका वर्णन आगेके श्लोकोंमें आयगा। ये प्रभु कर्मोंसे अत्यंत रहित हैं, इनका नाम है सिद्ध अर्थात् जो उत्कृष्ट गतिको प्राप्त हुए हैं। जो समस्त मलिनताओंसे दूर हो गए हैं, जैसे कि वे स्वयं हैं वैसा स्वरूप जिनके प्रकट हो गया है उन्हें सिद्ध कहते हैं।

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात् ॥६०६॥

प्रथमदेवका अरहंत, नाम होनेका सयुक्तिक वर्णन—देवमें देवबुद्धि करना कि यह देव है, गुरुमें गुरुबुद्धि करना कि यही गुरु है और धर्ममें धर्मबुद्धि करना कि यही धर्म कहलाता है सो तो है सम्यग्दर्शनका अंग और यदि कुदेवमें देवबुद्धि की तो वह है दोष, वह है मिथ्यात्वका उदय और कुगुरुमें यह गुरु है ऐसा माने तो वह भी मिथ्यात्व है और अधर्म जैसे कि बलि आदिक लोग करते हैं अथवा अधर्ममें धर्मबुद्धि करते हैं तो वह भी मिथ्यात्व है। इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा है कि देव कौन कहलाता है? देव वह कहलाता है जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो, जिसमें रागद्वेष न रहें और तीनों लोक तथा अलोकका जो जाननहार है वह देव कहलाता है। तो ऐसे देव दो प्रकारके हैं—(१) अरहंत और (२) सिद्ध। अरहंत तब तक कहलाते हैं जब तक कि शरीर है। सशरीर भगवानको अरहंत कहते हैं। और जब शेष अघातियाकर्म दूर हो गए तब शरीर भी दूर हो गया। केवल आत्मा रहा और वह एक समयमें लोकके अग्रभागमें स्थित हो जाता है—उसे कहते हैं सिद्ध। तो दो प्रकारके भगवन्तोंमें से अरहंत भगवानका स्वरूप कहा जा रहा है। भगवान अरहंत कहलाते हैं क्यों कि वे जगतपूज्य हैं। अरहंत उसे कहते हैं जो पूज्य हो। अरह धातु क्रिया अर्थमें है। तो कितने लोगोंसे पूज्यको अरहंत कहते हैं? अरे समस्त जगतसे को, तीनों लोकसे पूज्यको अरहंत कहते हैं। तीनों लोक किस तरहसे अरहंतको पूजते हैं सो सुनो—अरहंत भगवानके समवशरणमें तीनों लोकोंके इन्द्र पहुंचते हैं—पाताल लोकसे भवनवासी तथा व्यन्तर देवोंके इन्द्र, ऊर्द्ध लोकसे स्वर्गोंके इन्द्र तथा मध्यलोकसे मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्ती वगैरा तथा तिर्यञ्चोंके इन्द्र सिंह वगैरा पहुंचते हैं। ये सभी प्रभुके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं। नरकसे कोई नारकी नहीं आता, मगर उस पाताल लोकके भवनवासी और व्यन्तर देवोंके इन्द्र तो आते हैं। तो इस ही का अर्थ है कि वे अरहंत प्रभु तीनों लोकके समस्त जीवों द्वारा पूज्य हैं। ऐसे अरहंत परमेष्ठी जगतपूज्य होते हैं।

अरहंत देवका जिन, महादेव व शंकर नाम होनेका युक्तिक वर्णन—ये भगवान जिनेन्द्र कहलाते हैं। जिनेन्द्र उसे कहते हैं जो समस्त कर्मशत्रुओंको जीत ले। इन संसारी जीवोंके तो चार घातिया कर्म लग रहे हैं जिसकी वजहसे ये सब प्राणी चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं, जन्म-मरण करते हैं, रुलते फिरते हैं। संसारमें सबसे कठिन क्लेश है जन्म-मरणका।

हम आपका यह भाव हो कि हे प्रभो, मेरा जन्म-मरण मिटे, यही एक मेरी चाह है, जगतमें अन्य किसी पदार्थकी मेरी चाह नहीं है। खूब धन-वैभव मानो मिल गया तो उससे मेरे आत्मा का क्या पूरा पड़ेगा ? बल्कि जब तक वैभवका संग है तब तक इस जीवको आकुलता है, उसका उपार्जन करना, उसे बढ़ाना, उसकी रक्षा करना, इनमें भी क्लेश मानता है। और यह परिग्रह जब मिटता है तो उस समय भी यह क्लेश मानता है। इन बाहरी पदार्थोंका समागम मिलना तो इसके लिए क्लेश है, दोष है। जीवका भला इसमें नहीं है। इससे पूरा नहीं पड़नेका। इसका तो पूरा पड़ेगा जन्म-मरण मिटनेसे। भगवान भी भगवान क्यों कहलाते ? उनके जन्म-मरणका तांता दूर हो गया, इससे वे भगवान कहलाये। भला बतलाओ—यहाँ कुछ वर्षों तक कोई बड़े आरामसे रहे, मान लो विषयोंके मौजमें रहे तो उससे लाभ क्या ? आखिर मरण तो होगा ही। मान लो यहाँसे मरकर कीड़ा-मकौड़ा हो गए तो फिर क्या हाल होगा ? खोटी गतियोंमें ही यदि परिभ्रमण करते रहे, वहाँके दुःख ही सहते रहे तो फिर क्या हाल होगा ? तो इस जीवका भला है इसके जन्म-मरण दूर होनेमें। प्रभुके ये जन्म-मरण दूर हो गए, कर्मशत्रुओंपर उन्होंने विजय प्राप्त कर लिया। ये कर्मशत्रु ही तो इस जीवके जन्म-मरणके कारण बन रहे हैं। तो कर्मशत्रुओंको जीत लेनेके कारण, कर्मशत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेके कारण ये भगवान जिन कहलाते हैं, ये प्रभु महादेव कहलाते हैं। अरहंतका नाम महादेव भी है। जो देवाधिदेव हैं, जगतमें जितने भी देव माने गए हैं अथवा देवगतिके भी जितने देव हैं और कोई मनुष्योंके रूपमें भी कुछ माने जाते हैं उन सबके देवाधिदेव हैं। वास्तवमें देव हैं तो ये अरहंतदेव। देखो सिद्ध भगवान देव हैं, पर इन सिद्ध भगवानका ज्ञान किसने कराया ? वे तो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, उनका ज्ञान कराने वाले भी अरहंत भगवान हैं। जिनकी दिव्यध्वनिको गणधर देवने झेला, गणधर देवसे फिर अन्य आचार्योंने सुना, फिर उससे उपदेश शास्त्रपरम्परा चली। जो भगवान सिद्ध सर्वोत्कृष्ट निर्मल दशाको प्राप्त हैं उनकी सुध भी हमें अरहंतदेवके उपदेशसे होती है, इस कारण वे अरहंतदेव देवाधिदेव हैं, महादेव कहलाते हैं। ये अरहंत भगवान शंकर हैं, क्योंकि ये सुखको उत्पन्न करते हैं। संस्कृत में शं का अर्थ सुख कहा गया है। उस सुखको जो करे उसका नाम है शंकर। वास्तवमें शंकर हैं अरहंत भगवान। जिनके निकट पहुंचनेपर उत्कृष्ट भक्ति जगती है और भविष्यमें बांधे हुए कर्म खिरते हैं, ऐसे प्रभु अरहंत वास्तवमें शंकर कहलाते हैं। इस तरह देवोंमें जो बहुत प्रकार बताये हैं उनमेंसे अरहंत भगवानकी यह व्याख्या की जा रही है।

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्त्वात्कथञ्चन।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥६१०॥

अरहंत देवका विष्णु, ब्रह्मा व हरि नाम होनेका सुयुक्त वर्णन—लोग विष्णुको भग-

वान कहते हैं, पर विष्णु वास्तवमें हैं कौन ? ये ही भगवान अरहंत विष्णु हैं । विष्णुका अर्थ है तो सर्वत्र व्याप जाय । अब आत्मा तो प्रदेशोंसे लोकालोकमें व्यापक नहीं बनता । लोकमें अरहंत भगवानका आत्मा व्यापक होता है तो केवल एक समयको, जब कि लोकपूरण समुद्घात हो रहा हो । जितने पूरे ३ अघातिया कर्म आयुके बराबर हो जायें उस अवस्थामें एक समयके लिए अरहंत भगवानका आत्मा पूरे लोकमें फैल जाता है, बादमें वह सिकुड़ जाता है और जितना उसका शरीर है उतने मात्र रह जाता है, किन्तु वह तो एक समुद्घातकी दशा है । आत्मा सारे लोक और अलोकमें कभी फैल नहीं सकता । ज्ञान फैला है । भगवानका ज्ञान सारे लोकमें फैला है अर्थात् समस्त लोकको वह जानता है और अलोकको भी जानता है । लोक अनन्त है, जहाँ सिर्फ आकाश ही आकाश है उसे अलोक कहते हैं । वह भी ज्ञात है । तो जिसका ज्ञान इतना विशाल है उसे ही विष्णु कहते हैं । तो प्रभु अरहंत विष्णु हैं, क्योंकि समस्त अर्थोंमें उनका ज्ञान फैला हुआ है, और प्रभु ब्रह्मा कहलाते हैं । लोग ब्रह्मा शब्द कहकर भगवानको पुकारते हैं । तो वास्तवमें ये ब्रह्मा अरहंत भगवान हैं, क्योंकि वास्तविक जो आत्मस्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है उसका जाननहार होनेसे ये प्रभु ब्रह्मज्ञ कहलाते हैं । दूसरी बात यह है कि उत्कृष्ट सृष्टिके कारण तो ये अरहंत भगवान कहलाते हैं । संसारकी सृष्टि तो अनादिकालसे चली आ रही है, जो इस संसारसे हटाकर मोक्षमार्गमें ला दे और मुक्ति की सृष्टि करा दे, उसका कारण तो अरहंत भगवानकी भक्ति है, उनका उपदेश है, इसलिए वास्तवमें ब्रह्म अथवा ब्रह्मा तो ये अरहंत भगवान हैं । इन अरहंत भगवानको हरि भी कहते हैं । हरिका अर्थ है जो दुःखोंको हर दे, दुःखोंको दूर कर दे । भगवानने अपने दुःखोंको तो हर ही दिया, उनके दुःख तो नष्ट हो ही गए, पर जो भक्त भगवानकी भक्ति करते हैं, उनके स्वरूपका स्मरण करते हैं, वे भी दुःखोंसे दूर हो जाते हैं । इसलिए वास्तवमें हरि तो ये अरहंत भगवान ही हैं ।

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥६११॥

अनेक नाम होनेपर भी देवकी एकविधताका प्रतिपादन—जैसे कि कुछ ऊपरके श्लोकोंमें अरहंत भगवानके नाम बताये गए उसी प्रकार अनेक नाम भी अरहंत प्रभुके हैं, और सहस्रनामस्तोत्रमें तो १००८ नाम बताये ही गए हैं, ऐसे अनेक नाम हैं, पर वास्तवमें देवका जो लक्षण है वह सब नाम वाले अरहंतोंमें पाया जाता है, वह एक ही स्वरूप है, इसलिए देव एक है । वह देव क्या है ?····जो वीतराग है और सर्वज्ञ है । आत्मामें कलङ्क हैं ये रागद्वेष मोहादिक विकार, जब तक ये रागद्वेष मोहादिक लगे हुए हैं तब तक इस जीवकी भलाई नहीं है । ये कलंक है । ये जीवको चतुर्गतियोंमें भटकाने वाले हैं । ये कलङ्क जिनके रंचमात्र

भी नहीं रहते, ऐसे शुद्ध ज्ञाता भगवान अरहंत कहलाते हैं। जहाँ रागद्वेष नहीं रहते, तो ये ही आवरण थे ज्ञानको हल्का बनानेमें। जो जीव रागी होता उसका ज्ञान विकसित नहीं होता। तो ये रागद्वेष ही तो इस ज्ञानको दबाये हुए थे। जहाँ रागद्वेषादिक विकार नष्ट हुए कि यह ज्ञान इतना विस्तृत हो जाता है कि समस्त लोकालोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जान लेता है। ऐसा जो स्वरूप है वह सबमें एक है। चाहे वे ऋषभदेव अरहंत हों, चाहे महावीर हों, चाहे श्रीराम हों अथवा कोई साधारण केवली हो। सभी अरहंतोंका स्वरूप एक ही समान है—वीतराग और सर्वज्ञ जहाँ रागद्वेषादिक रंच भी न हों और समस्त लोकालोकका जो जाननहार हो उसे अरहंत भगवान कहते हैं। तो यों अनेक नाम होनेपर भी स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो प्रभु देव एक ही हैं।

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैमविधत्त्वतः ॥६१२॥

देवताकी एकविधता होनेसे देवबहुत्वकी दोषानुत्पादकता—यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे देव अनेक प्रकारके नामोंसे कहे गए हैं—ऋषभदेव भगवान, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदिक २४ तीर्थंकर बताये गए हैं। पर २४ तीर्थंकर बताये जानेसे नहीं यह न समझना चाहिए कि देव २४ प्रकारके हो गए। देव तो एक ही प्रकारका है। उनमें जो अनंतचतुष्टय प्रकट है वह तो सभीमें एक जैसा ही प्रकट है, चाहे वे ऋषभदेव हों, चाहे महावीर हों, चाहे श्रीराम हों अथवा चाहे कोई भी साधारण केवली हो। जो २४ भगवान बताये गए हैं वह तो भरत, ऐरावत क्षेत्रकी बात है। जिस क्षेत्रमें हम आप रहते हैं, यह तो भरतक्षेत्र है। यहाँ ६ कालोंका परिवर्तन होता है। पहिले कालमें उत्कृष्ट भोगभूमि, दूसरे कालमें मध्यम भोगभूमि, तीसरे कालमें जघन्ययोगभूमि, चौथे कालमें ये २४ तीर्थंकर होते हैं, पंचम कालमें तो यही होता है जैसा कि आजकल चल रहा है। इसके बाद छठा काल आयगा, वहाँपर धर्मकी प्रणाली न रहेगी, सभी लोग नष्ट हो जायेंगे, एक-एक हाथके शरीर वाले मनुष्य होंगे। धर्ममार्ग खतम हो जायगा। छठे कालके अन्तमें प्रलय होगी, उसमें सब जीवोंका विध्वंस होगा, लेकिन कुछ पुण्यशाली मनुष्य बचे रहेंगे, उन्हें देव लोग अच्छे स्थानोंमें रक्षित रखे रहेंगे। फिर उनमेंसे कुछ अपने आप पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक जगहोंमें पहुंच जायेंगे। उस प्रलयकालके बाद फिर छठा काल आयगा। उसमें भी इसी छठे कालकी प्रवृत्ति रहेगी। उसके बाद फिर पंचम काल आयगा, फिर क्रमशः चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय आदि काल आयेंगे। यह उत्सर्पिणी काल कहलायेगा। इस उत्सर्पिणी कालमें जब चतुर्थ काल आयगा तो उसमें भी २४ तीर्थंकर उत्पन्न होंगे। तो प्रत्येक चौथे कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें भी २४ तीर्थङ्कर होते हैं तथा धातकी खंडके व पुष्करार्द्ध द्वीपके दोनों भरतों व ऐरावतोंमें २४-२४

तीर्थंकर यहाँके चतुर्थकालके समय होते रहते हैं, परन्तु विदेह क्षेत्रमें सदा तीर्थङ्कर भगवान होते रहते हैं और वे अधिकसे अधिक हों तो कभी १६० तीर्थङ्कर तक हो सकते हैं। जो २० तीर्थङ्कर बताये हैं वह तो महावीर स्वामीके समयकी बात है। वह बात अभी चल रही है, पर २० ही तीर्थङ्कर नहीं होते, अधिकसे अधिक १६० तीर्थंकर तक होते हैं। तो इतने तीर्थंकर देव होनेपर कहीं देव नाना तरहके नहीं हो गए। देवका स्वरूप एक ही है। जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो उसे देव कहते हैं। इस प्रकार देव अनन्त कहलाते हैं। इनका कभी अन्त नहीं होता। भगवान बने तो अन्त काल तक ही बने अथवा जब भगवानके गुणोंपर दृष्टि देते हैं यो उनमें गुण अनन्त हैं। उन अनन्त गुणोंकी दृष्टिसे देव अनन्त हैं। लेकिन ऐसे अनन्त अथवा २४ अथवा करोड़ों ज्ञात कर लेनेपर भी देवका स्वरूप अनेक नहीं होता है, क्योंकि स्वरूपदृष्टिसे देव एक ही प्रकारका है। यहाँ बहुत हो गए, २४ तीर्थङ्कर हैं तो ऐसे बहुत जान लेना, यह दोषके लिए नहीं है। वे इतने व्यक्ति थे जो कि शुद्ध हुए हैं, पर स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो देव एक ही प्रकारका है—जो वीतराग है और जो सर्वज्ञ है उसको देव कहते हैं।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्त्वहानये।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्याम्न स्यान्नानाप्रकारता ॥६१३॥

अनेक प्रदीपोंमें प्रदीपत्वकी एकविधताकी तरह नाना देवोंमें देवत्वकी एकविधता— २४ तीर्थङ्कर और अनेक केवली होनेपर भी वे सब एक ही प्रकारके देव हैं। इसके समर्थनमें इस श्लोकमें दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे दीपक अनेक रखे हों तो दीपकोंकी अनेक संख्या होनेपर भी उनमें जो दीपत्व है, दीपपना है, प्रकाश करना है, इस प्रकारका जो प्रदीपपना है वह भी अनेक न होगा। अनेक दीप होनेपर भी वे सब दीप एक दीपपनेको सिद्ध करते हैं। तो जैसे दीपककी अनेक संख्या दीपपनेकी बुद्धिको दूर नहीं कर सकती, इसी प्रकार अरहंतकी अनेक संख्या अरहंतके स्वरूपके एकत्वकी देवत्वकी बुद्धिको दूर नहीं कर सकती। ऋषभदेव हैं तो वे भी वैसे ही अरहंत हैं जैसे कि महावीर। ३ इंच हाथकी अवगाहनाके भी अरहंत होते हैं और ५२५ हाथकी अवगाहना वाले भी अरहंत होते हैं, और कोई अरहंतदेव करोड़ों वर्ष तक भी रहते हैं। कोई अन्तर्मुहूर्त तक ही रहते हैं, इतना कालभेद होनेपर भी, इतनी अवगाहना होनेपर भी भीतरमें विराजमान जो वीतराग सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है वह देव कहलाता है। वह सबमें समान है। तो यों अरहंतका स्वरूप वह है जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो। तो उनकी नाना प्रकारता इस ही एक देवपनेको प्रकट करती है। ऐसे नाना अरहंत कहे जानेसे कहीं देव नाना नहीं हो जाते। देव तो एक ही प्रकारका है—जो वीतराग और सर्वज्ञ है।

न चाशक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्यास्त्यनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ।।६१४।।

गुणापेक्षया देवोंके नाम कहे जानेके कारण यथासंख्य अनंतविधताकी शंकानास्पदता—प्रभुके अनेक नाम बताये गए हैं, और प्रभुमें गुण अनन्त हैं। तो जिस गुणका नाम लेकर प्रभुको पुकारोगे उस-उस प्रकारके नाम बनते जायेंगे। तो कोई यह शंका न करे कि जब क्रमसे उन नामोंको पुकारा जा रहा है तो भगवान तो अनन्त हो गए। भले ही अनन्त नामोंसे भगवानको पुकारा गया है, लेकिन वास्तवमें एक गुण है। वह क्या ?····आत्माकी स्वच्छता। यह तो सभीमें एक ही प्रकारका है। तो इस स्वच्छताकी दृष्टिसे भगवान अरहंत एक प्रकारके ही हैं, वे नाना प्रकारके नहीं हो जाते। भले ही एक-एक गुणकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न नाम बोल दिए गए हों, लेकिन बात एक ही है—शुद्ध परिणमन। आत्माका जैसा सहज स्वरूप है उस स्वरूपके अनुसार परिणमन हो गया है, इसीको तो अरहंत बोलते हैं। आत्मा अपने आप कैसा है ? ज्ञानमात्र। शरीर वाला है आत्मा। कर्मके उदयसे इस शरीरके झंझट लग गए। रागद्वेषरूप नहीं है आत्मा। कर्मके उदयसे रागद्वेषके झंझट बन गए हैं। भगवान तो अथवा सहजस्वरूप तो केवल एक ज्ञानज्योतिमात्र है। तो ऐसी ज्ञानमात्र ज्योति जहाँ प्रकट हो गई है उसे अरहंत कहते हैं। तो यों एक गुणकी दृष्टिसे वह एक ही भगवान कहलाता है और एक-एक पृथक्-पृथक् गुणकी दृष्टिसे अनेक नाम हो जाते हैं, पर स्वरूप सबमें एक ही प्रकारका पाया जाता है।

नयतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ।।६१५।।

व्यवहारनयसे देवके अधिक नाम व संख्याकी योजना—भगवानको अनेक नामोंसे पुकारा जाता है, और इस तरह भगवान अनेक नाम वाले बन गए तो यह केवल गुणोंकी दृष्टिसे समझना चाहिए। भगवानमें जितने गुण हैं उन एक-एक गुणोंका नाम लेते जावो उतने ही भगवानके नाम बन जाते हैं। लेकिन यह सारा कथन नयकी अपेक्षासे है। और इस व्यवहारनयमें प्रभुमें जितने गुण विदित होते जायेंगे उन गुणोंके नामसे उतने ही नाम प्रभुके बनते जायेंगे, पर प्रभुता तो एक ही प्रकारकी है। चाहे वह कोई भी मनुष्य अरहंत बना हो। अरहंत होनेकी स्थितिमें भीतरमें सबका स्वरूप एक समान है और वह स्वरूप क्या है कि ज्ञानज्योतिर्मय जो आत्मा है वह रागद्वेषादिक कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध ज्ञान वाला बन गया है। अब रागद्वेष दूर होनेपर शुद्ध ज्ञान जब रह जाता है तो वह ज्ञान इतना विशाल हो जाता है कि तीनों लोक अलोक जिसके ज्ञानमें निरन्तर समाया हुआ रहता है, अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। तो यों वीतराग सर्वज्ञपनेकी दृष्टिसे भगवान एक प्रकारका है और अरहंत सिद्ध

देव, ये एक ही प्रकारके देव हैं, क्योंकि देवत्वका जो स्वरूप है वह है ही वीतरागता और सर्वज्ञता। ये अरहंत और सिद्ध दोनोंमें एक समान रूपमें पाये जाते हैं। इस तरह द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देव एक प्रकारका कहा गया है।

वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत्।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥६१६॥

तत्त्वकी वागतिशायिता—देवत्व एक ही प्रकारका है और वह भिन्न-भिन्न आत्माओं में जो कि परम आत्मा हो गए हैं, एक ही स्वरूपसे पाया जाता है। इसी कारण ज्ञानवृद्ध आचार्य जनोंने, सूत्र द्वारा तत्त्वको वचनोंके अगोचर बताया है अर्थात् वह शुद्ध आत्मतत्त्व जो द्रव्यरूपसे सहज है और पर्यायदृष्टिसे भी सहज तत्त्वके सही अनुरूप है वह वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। जो इस तत्त्वको बतानेमें समस्त द्वादशांग और अङ्ग बाह्य श्रुतज्ञान बताया गया है वह भी तद्विषयक स्थूल पदार्थोंको विषय करने वाला है। सारांश यह है कि वह देवत्व ऐसा अन्तरङ्ग गुण है कि जो अनुभवमें तो आ सकता है, पर जिसके अनुभवमें आता है और जो देवत्वका सत्य स्वरूप है उस स्वरूपको घटना द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। हाँ वचनों द्वारा कहा भी जायगा तो उसका स्पष्ट अर्थ वह ही पुरुष समझ सकेगा जिसने देवत्वका कुछ दर्शन किया है। अपने आपमें निर्विकल्पसमाधि बलके द्वारा सहज ज्ञानज्योति का अनुभव करने वाला पुरुष ही उन वचनोंका स्पष्ट अर्थ समझ सकता है।

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥६१७॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥६१८॥

कृत्स्नकर्मक्षयसे उत्पन्न हुए सिद्धोंके आठ गुण—देव अवस्था विशेषसे दो प्रकारके कहे गए थे। प्रथम देव अरहंत और द्वितीय देव सिद्ध। इस श्लोकमें सिद्ध भगवानके ८ गुणों का स्वरूप कह रहे हैं। निर्देश द्वारा ही उनका स्वरूप जान लिया जाता, अतएव नाम बताकर सिद्ध भगवानके अष्टगुणोंकी ख्याति की जा रही है। सिद्ध भगवानमें प्रथम गुण है क्षायिकज्ञान। यह गुण समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ है अथवा जितने आठों गुण कहे गए हैं वे सभी ८ प्रकारके कर्मोंके क्षयसे प्रकट हुए हैं, जिनमें ज्ञान तो केवलज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट हुआ है। ऐसी प्रकृति प्रदेशबंध जिसमें स्थिति अनुभाग इस प्रकारका पड़ा था कि जिसके उदयके आनेपर आत्माका ज्ञान रुक जाता था। यद्यपि समस्त ज्ञान नहीं रुका, कुछ रंचमात्र ज्ञान फिर भी रहा, लेकिन ज्ञानावरणका जितना उदय था उतना रुका रहा। उस कर्मके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट हुआ है, जिसके द्वारा तीनों लोकालोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट जान

लिए जाते हैं। दूसरा गुण है क्षायिक दर्शन। यह गुण केवल दर्शनावरणके क्षयसे प्रकट हुआ है। जाननहार आत्माका स्पष्ट प्रतिभास कर लेना दर्शनका कार्य है। तो जहाँ तीनों लोका-लोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ जान लिए गए हैं, ऐसे इतने विशाल ज्ञाता आत्माको प्रतिभासमें लेवे, ऐसे दर्शनको अनन्तदर्शन कहते हैं। तीसरा गुण है अतीन्द्रिय आनंद। अतीन्द्रिय आनन्दका बाधक वास्तवमें मोहनीयकर्म है और फिर चार घातिया कर्म हैं अथवा यों कहो कि आठों ही कर्म इस आनन्दके घातक हैं। तो जहाँ आठों कर्मोंका क्षय हो गया वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है। चौथा गुण है अनन्तवीर्य। वीर्यान्तिराय अथवा समस्त अंतराय कर्मोंका क्षय होनेसे भगवानमें अनन्तवीर्य प्रकट होता है। जो अनन्तगुणका अनंत विकास है उसको झेले रहे, इसके लिए अनन्तवीर्यकी आवश्यकता है। वह गुण अंतराय कर्मके क्षयसे प्रकट हुआ है। ५वाँ गुण है सम्यक्त्व। मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेसे निर्दोष निर्मल अविकार सम्यक्त्व प्रकट हुआ है। छठा गुण है सूक्ष्मत्व। नामकर्मके क्षय हो जानेसे सूक्ष्मत्व गुण प्रकट हुआ है। आत्मा सूक्ष्म तो है ही, अनादिसे सूक्ष्मत्व गुण उसमें था, लेकिन कर्मसे ग्रस्त होनेके कारण यह आत्मा नर-नारकादिक पर्यायोंमें बंधा रहा। दूसरी बात बतायी गयी थी कि भावमें रंजित रहा, इस कारण भी कथंचित् मूर्त रहा, स्थूल रहा। अब वह स्थूलताका कारण न रहनेके कारण आत्माका सूक्ष्मत्व गुण जैसा सहज है वैसा ही प्रकट हो गया। ७वाँ गुण है अव्याबाधगुण। जहाँ अब किसी प्रकारकी बाधा नहीं रही, वेदनीयकर्मके उदयमें अनेक बाधायें आती थीं, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग आदिक रागद्वेषादिकके कारणभूत संग रहा करता था, जिसमें यह अनेक प्रकारकी बाधाओंका अनुभव करता था। अब वेदनीयकर्मके क्षय हो जानेसे अव्याबाध गुण प्रकट हुआ है। ८वाँ गुण है अगुरुलघुत्व गुण। गोत्रकर्मके उदयमें यह जीव कभी नीच-ऊँच कुलमें उत्पन्न होता था। अब गोत्रकर्मका विनाश हो जानेसे अगुरुलघुत्व गुण प्रकट हुआ है, वह अब न लघु रहा, न गुरु अर्थात् इतना गुरु हो गया कि जिससे घट-बढ़पना सिद्धमें नहीं पाया जाता। लघुपना तो अब नहीं रहा, इस तरह सिद्ध भगवानमें ये ८ स्वाभाविक गुण होते हैं।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥६१६॥

अनन्तधर्माढ्य कर्माष्टकविवर्जित अष्टादशदोषरहित देवकी सेव्यता—ऊपर ८ गुणोंको मुख्यतया बताया था। इसी प्रकार और भी यह समझना चाहिए कि वह सिद्ध भगवान अनंत धर्मोंसे युक्त हैं, क्योंकि अनन्त गुणवान आत्मा है और गुणके घातक कर्मोंके नष्ट हो जानेसे वे सभी गुण उच्चविकासको प्राप्त हुए हैं। तब अनन्त धर्मोंसे युक्त सिद्ध भगवान कहे गए वे युक्त ही हैं। ये प्रभु अष्टकर्मोंसे रहित हैं। द्रव्यकर्मका अब कुछ भी निषेक यहाँ नहीं रहा

और साथ ही कोई विभाव वासना भी नहीं रही, इसी कारण अब सिद्धप्रभुमें कर्मांकुर कभी भी न आ सकेंगे। ये प्रभु १८ प्रकारके दोषोंसे रहित हैं। जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, तृषा आदिक किसी भी प्रकारका दोष इन प्रभुमें नहीं पाया जाता। इस प्रकार १८ प्रकारके दोषोंसे ये सिद्धप्रभु निर्मुक्त हैं। ऐसे ये सिद्धदेव ही उपासनाके योग्य हैं। अरहंत भी सिद्ध ही कहलाते हैं। तो इन अरहंतदेवको छोड़कर अन्य लौकिक रूढ़िमें माने गए कोई देवगतिके अथवा कोई कल्पित देवता उपासनीय नहीं कहे गए।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः।
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥६२०॥

वीतराग सर्वज्ञदेवकी गुरुता, मोक्षमार्गोपदेशकता, आप्तता एवं मोक्षमार्गनेतृता—उक्त कथनका सारांश यह है कि कर्मोंसे रहित १८ प्रकारके दोषोंसे मुक्त रागद्वेषादिक विभावों से अतीत सर्वलोकालोकका जाननहार परमात्मा ही वास्तविक गुरु है, और ऐसे अरहंतदेव ही मोक्षमार्गका उपदेश करने वाले हैं। अर्थात् इनका दर्शन, इनकी दिव्यध्वनि श्रवणसे मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें सहयोग मिलता है, इस कारणसे ये ही आप्त कहलाते हैं और यहीं आप्त अरहंत भगवान मोक्षमार्गके साक्षात् नेता हैं। नेता उसे कहते हैं जो मोक्षमार्गको प्राप्त कर चुके हों और दूसरोंको भी मोक्षमार्गकी प्राप्तिका उपाय बताते हों। जैसे जो पुरुष स्वयं नदी पार करके दूसरी पार पहुंच गया है उसी पुरुषको वास्तविक अधिकार है कि वह दूसरेको भी बताये कि इस रास्तेसे आइये तो बिना किसी बाधाके इस नदीको पार करके इस तटपर आ सकते हो। तो जो स्वयं तिर चुके हों और दूसरोंको तिरनेका पंथ बतायें, ऐसे मोक्षमार्गके नेता ये अरहंत भगवान ही हैं।

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेषभाक् ॥६२१॥

छद्मस्थावस्थामें भी जिनलिङ्गधारी साधुओंकी गुरुताका कथन—उक्त श्लोकमें परम गुरुका निर्देश किया गया, परमगुरु अरहंत आप्त भगवान हैं और उनमें परमगुरुसे नीचे अल्पज्ञ पुरुष भी जो कि उस जिनरूपको धारण करने वाले हैं वे भी गुरु कहलाते हैं। अरहंत भगवान परमगुरु हैं, और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये गुरु हैं। जो जिनेन्द्र भगवानका रूप है यथाजात रूप। जैसे बालक उत्पन्न होता तब तो उसके शरीरमात्र दिखता है, उसके साथ न कोई आभूषण है, न वस्त्र, किसी भी प्रकारका परिग्रह जिसके साथ नहीं, ऐसे ही निर्ग्रन्थ भेषको लिए हुए और जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त साधुजन हैं, वे गुरु कहलाते हैं, क्योंकि गुरु का लक्षण इन साधुवोंके भी वैसा ही है जैसा कि सामान्य रूपसे परमगुरुका बताया गया है। ऐसी विशेषता पायी तो है वहाँ रागद्वेषका पूर्ण विनाश है और सर्वज्ञता पूर्ण प्रकट है। तो

यहाँ भी ये विरक्त जन हैं और विशुद्ध ज्ञान लिए हुए हैं। और लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञान को धारण किए हुए हैं, अतः ये साधु जन गुरु कहलाते हैं। इस गुरुकी अवस्थासे विपरीत अन्य कोई अवस्था-विशेषमें रहने वाले पुरुष गुरु नहीं कहला सकते।

अस्त्यवस्थाविशेषोत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥६२२॥

युक्तिस्वानुभवागमप्रसिद्ध गुरुवोंकी अतिशायिता—संसारी जीवोंकी अपेक्षा कोई अवस्था विशेष है—इन गुरुजनोंकी, यह बात युक्ति, अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध होती है। संसारी जनोंसे मतलब साधारण रागी, द्वेषी, मोही, गृहस्थ जनोंसे है। जो हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोंसे सर्वथा दूर नहीं हुए हैं, जो आरम्भ परिग्रहमें आसक्त हैं, जिन्होंने ब्रह्मस्वरूपमें रमण करनेकी धुन नहीं बनायी है, ऐसे साधारण जनोंसे बहुत विशेष अतिशय गुरुजनोंमें पाया जा रहा है। यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है। यहाँ गृहस्थ जनोंमें राग-विशेष है, अशान्ति है, और वहाँ गुरु जनोंमें रागकी अतिमंदता है, बल्कि वैराग्यका प्रकाशन है, इसलिए वे गुरु कहलाते हैं। साधारण जनोंमें ज्ञान ऐसा पाया जाता है कि जो बाह्य पदार्थोंमें अटका हुआ रहता है, उलझा हुआ उनका ज्ञान है, किन्तु गुरु जनोंका ज्ञान आत्म-विषयक है, सुलझा हुआ ज्ञान है, उन्हें हर्ष, विषाद, विपदा आदिकका स्थान नहीं बनना पड़ता है, इसलिए इन गुरु जनोंमें साधारण जनोंकी अपेक्षा विशेष अतिशय पाया जाता है।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥६२३॥

भाविनैगमनयसे भाविपदमें तद्वत्ताकी दृष्टि—भावीनैगमनयकी अपेक्षासे देखा जाय तो इस नयमें होने वाली चीज हुईकी तरह दिखा करती है। तब इन गुरुजनोंको भी अरहंत ही हैं, ऐसा इस नयमें दिखता है। याने नैगमनय उसे कहते हैं कि जो भावी गुरुमें होने वाली अवस्था है उसको वर्तमानमें ही कह देना। जैसे कोई युवराज आगे राजा तो होगा ही, तब ही उसे युवराज कहा गया है, पर उस युवराजको पहिलेसे ही राजा कहने लगना, अथवा किसी पुरुषके मंत्री आदिक पदपर नियुक्ति हो रही है, अब चाहे वह चार्ज दो दिन बाद सम्हाले, लेकिन उसे मंत्री कह देना, यों आगे होने वाली परिस्थितिको वर्तमानमें कह देनेकी बात भावी नैगमनयमें हुआ करती है। तो ये गुरुजन जो अविकार ज्ञानस्वभावी आराधनाकी धुन ही लिए हुए हैं और क्षण-क्षणमें यथासमय विकल्पोंसे रहित होकर अविकार ज्ञानस्वभाव की उपासनामें अभेद रहा करते हैं, ये गुरु जन अब निकटकालमें ही अरहंत होंगे। इनका स्वरूप वीतरागता और ज्ञानकी स्वच्छताका है, अतएव भावी नैगमनयसे ये अरहंत हैं, या कहो कि अरहंतमें जो गुण हैं वे सब एक देशरूपसे छद्मस्थ गुरुवोंमें पाये जाते हैं, इस कारण ये

गुरु कहलाते हैं। तो परमगुरु हुए अरहंत और गुरु हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु नामके मुनिराज।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक्चारित्रावरणक्षतेः ॥६२४॥

छद्मस्थ गुरुवोंमें सम्यक्त्व व एकदेशसम्यक्चारित्रकी प्रकटता— उन छद्मस्थ गुरुवोंमें भी चूंकि मिथ्यात्वकर्म तो रहा नहीं, वे उपशान्त हैं और सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है, तो सम्यग्दर्शन प्रकट हो जानेके कारण तथा चारित्रमोहनीयकी क्षति हो जानेसे चारित्र प्रकट हो जानेके कारण ये शुद्ध धर्मकी मूर्ति बन गए हैं। तो छद्मस्थ गुरुवोंमें कषायोंका क्षय हो जानेसे एक देश सम्यक्चारित्र भी प्रकट हो गया है। अरहंत परमगुरु पूर्ण चारित्रकी मूर्ति हैं, यथाख्यात चारित्र उनके प्रकट हुआ है, तो इन गुरुवोंके भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि कषायोंका क्षय हो जानेसे यहाँ भी यथाख्यात चारित्र प्रकट हुआ है, इस कारण अरहंतदेव परमगुरु हैं। तो ये आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरुवोंमें गुरुत्वबुद्धि करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसंभवात् ॥६२५॥

मोहकर्मोदयका अभाव होनेसे गुरुवोंमें शुद्धत्वकी अभिव्यक्ति—जहाँ दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका विनाश हुआ है वहां स्वभावतः शुद्धिपना सिद्ध हो जाता है। ये गुरुराज जिनका उपयोग सहज ज्ञानस्वभावकी ओर लगा रहता है, जिनकी धुन इस अंतस्तत्त्वमें ही समायी रहती है उन गुरुराजमें शुद्धि है, यह बात स्पष्ट सिद्ध है, क्योंकि मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे कलमषतायें उत्पन्न होना असम्भव है। विकार, कलमषता, मलिनता आदि मोहनीयकर्मके उदयसे हुआ करते हैं, जहाँ मोहनीयकर्मका अभाव हो चुका वहाँ कलमषतायें कहाँसे आ सकती हैं? तो इन गुरुराजमें भी मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे अथवा नामकर्मका, संज्वलन कषायोंका मंद उदय होनेपर उनके कलमषतायें उत्पन्न नहीं हो सकतीं, इस कारण गुरुवोंमें भी ज्ञान और वैराग्यकी स्वच्छता प्रकट हुई है, इस ही कारण वे वास्तविक गुरु कहलाते हैं। गुरुवोंमें जो शुद्धता प्रकट हुई है, रागद्वेषका अभाव होनेसे ज्ञानकी जो स्वच्छता प्रकट हुई है वह निर्जराका समर्थ कारण है, यह बात भली-भाँति प्रसिद्ध है तथा यह सम्वरका भी कारण है। सम्वरके विपरीत है आस्रव तथा आस्रवके द्वार हैं मिथ्यात्व, अविरत आदिक भाव। जहाँ मिथ्यात्व रागद्वेषादिक भाव दूर हो गए वहाँ सम्वर तत्त्व प्रकट हो जाता है। तो जहाँ रागादिक भाव दूर हुए वहाँ ज्ञानकी स्वच्छता ही तो प्रकट हुई है। ऐसी शुद्धता निर्जराका कारण है और रत्नत्रयका भी कारण है और यही शुद्धता मोक्षको प्राप्त कराने वाली है।

मुक्तिमें परमकैवल्य अवस्था प्रकट है अर्थात् आत्मा केवल जैसा सहज स्वरूपमें है उस प्रकार का स्वरूप वहाँ पूर्ण प्रकट है। तो ऐसे कैवल्यकी पूर्णता तब ही तो हुई जब कि पहिलेसे कैवल्यका प्रकाश होवे। तो कैवल्य कहो अथवा शुद्धता कहो, एक ही बात है। जहाँ ज्ञानकी स्वच्छता प्रकट हुई है याने रागादिक विकारोंसे रहित ज्ञानभाव जहाँ प्रकट हुआ है, ऐसी यह शुद्धता ही पूर्णरूपसे जब धारण करता है तो उस ही को मुक्ति कहते हैं। तो ऐसी मुक्तिको प्राप्त कराने वाली यह ज्ञानकी शुद्धता है, ऐसी शुद्धता इन गुरुवोंमें प्रकट है, इस कारण ये **साधुपरमेष्ठी गुरु कहलाते हैं।** इन गुरुवोंमें गुरुपनेकी बुद्धि रखना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य गुरुवोंमें, कुधर्ममें, कुदेवमें देवत्व, धर्मत्व, गुरुत्व आदिकी बुद्धि करना सो मूढ़-दृष्टि कहलाता है। ऐसी मूढ़दृष्टि जहाँ रंच भी न रहे उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥६२६॥

गुरुवोंके शुद्ध परिणाममें निर्जराहेतुता, संवरकारणता व निर्वाणभाजनता—गुरुमें जो शुद्धता पायी जाती है वह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है, यह बात तो स्पष्ट प्रसिद्ध ही है, साथ ही वह शुद्धता सम्वरका भी कारण है, क्योंकि शुद्धता ज्ञायकभावके विकासमें दोनों ही सामर्थ्य हैं कि बँधे हुए कर्म निर्जीर्ण हो जायें और आगामी कर्म न आ सकें। यों गुरुमें पायी जाने वाली शुद्धता निर्जरा और सम्वर दोनोंका कारण है। साथ ही यह भी बात स्पष्ट है कि वह शुद्धता क्रमसे मोक्षको प्राप्त कराने वाली भी है। जैसे शुद्ध भावमें कर्म निर्जरा और कर्मसम्वर हो रहे हैं तो यह युक्तिसिद्ध बात है कि जहाँ सम्वर हो और निर्जरा हो वहाँ मोक्ष अवश्य है। जैसे छेद वाली नावसे पानी आ रहा था। अब यदि उस छिद्रको बन्द कर दिया जाय और उस नावमें आया हुआ जल क्रमसे उलीच दिया जाय तो नया जल नहीं आता और पुराना जल दूर कर दिया तो उसका फल यह है कि इस जलसे सदा पूरा खाली हो जाता है। इसी तरह जब कर्मोंके दूर आनेके द्वारा बन्द कर दिए गए और वे हुए शुद्ध भावों से तो जहां शुद्ध भाव हुए वहाँ कर्मोंका आना भी रुक गया और बँधे हुए कर्म खिर गए तो इस स्थितिमें क्रमसे नियमसे मोक्ष ही होगा। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें पायी जाने वाली जो शुद्धता है वह सम्वर, निर्जरा और मोक्षका कारण होती है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥६२७॥

गुरुवोंके शुद्ध परिणामकी निर्जरासंवरमोक्षरूपता—गुरुजनोंमें पायी जाने वाली शुद्धता निर्जरा, सम्वर और मोक्षका कारण है, इतना भी भेद क्यों किया जाय? वह शुद्धता स्वयं निर्जरा, सम्वर और मोक्ष है, ऐसा भी निरखना चाहिए, क्योंकि शुद्ध भावोंसे अविनाभाव

जहाँ आत्मद्रव्य है वही निर्जरा है, वही सम्वर है और वही मोक्ष है । अर्थात् शुद्ध भाव परिणत आत्मा ही तो निर्जरा कर रहा है । शुद्ध भाव परिणत आत्मा ही तो सम्वर रूप बन रहा है, अर्थात् कर्म न आयें, ऐसी स्थिति इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी हो रही है और जब मोक्ष होता है तो वहाँ भी रहा क्या ? शुद्ध आत्मा ही । इस तरह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा है, संवर है और मोक्षस्वरूप है । तो निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही निर्जरा, सम्वर और मोक्ष इन तीनों उपादान तत्त्वोंरूप है ।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥६२८॥

निर्जरादिहेतुभूत शुद्ध भावकी परमपूज्यता—जो निर्जरा आदिकका कारण आत्माका शुद्ध भाव है वह भाव शुद्ध भाव है । चैतन्य आत्माका जो सहज विकसित भाव है वही तो निर्जराका कारण है और वही भाव पूज्य है । जिस भावसे सम्वर, निर्जरा और मोक्ष होता है वही भाव परमपूज्य है । जो शुद्ध भावको धारण करने वाला आत्मा है वही परमगुरु है । प्रकरण यह चल रहा है कि देवमें देवबुद्धि करना और गुरुमें गुरुबुद्धि करना सो सम्यग्दृष्टिका गुण है । तो देव क्या है ? शुद्ध आत्मा ही तो देव है, गुरु भी यह शुद्ध आत्मा ही है । तो ये देव और ये गुरु पूज्य हैं । तो इसका भाव यह हुआ कि निर्जराका कारणभूत जो आत्माका शुद्ध भाव है वही परमगुरु कहलाता है ।

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥६२९॥

दोषसंक्षयकी गुरुत्वहेतुता—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि गुरुपनेका कारण मात्र दोषोंका क्षय होना है । परमगुरुमें भी देखो तो उनके परमगुरुता किस कारण हुई है ? भगवान सर्वज्ञदेव वीतरागताके कारण परमगुरु कहलाते हैं । रागद्वेषका होना गुरुताका बाधक है । जहाँ रागद्वेष कतई नहीं हो रहे हैं वहाँ परमगुरुता प्रकट हो जाती है । निर्दोष पुरुष ही जगतको जानने वाला है । निर्दोष पुरुष ही मोक्षमार्गका नेता हो सकता है । अर्थात् स्वयं मोक्षमार्गमें चलकर दूसरोंको मोक्षमार्गमें लगाने वाला होता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परमगुरुताका कारण निर्दोषपना ही है, और जो निर्दोष नहीं है वह न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न मोक्षमार्गका नेता हो सकता है । यों दोषवान तो समस्त संसारी जीव जगत में चारों गतियोंमें भ्रमण कर ही रहे हैं, वे कहीं मोक्षमार्गके नेता नहीं हैं और न वे गुरु हैं, न देव हैं । तो गुरुपनेका कारण केवल दोषोंका विनाश ही है । जहाँ रागद्वेष दूर हो गए वही परमगुरु है और जहाँ रागद्वेष अत्यंत मन्द हैं, क्षीण हो रहे हैं वे गुरु कहलाते हैं ।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ।।६३०।।

कषायविजयी गुरुकी छद्मस्थतामें गुरुत्वक्षतिकी अकारणता—कोई शंकाकार ऐसा भाव रखे कि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये छद्मस्थ हैं, अल्पज्ञ हैं, इस कारण इन्हें गुरु नहीं कहा जाना चाहिए। ऐसी शंका यों संगत नहीं है कि गुरुताको नष्ट करने वाले तो रागादिक अशुद्ध भाव हैं। कहीं वे अल्पज्ञ हैं, इस कारण गुरु नहीं हैं, यह व्याप्ति नहीं बन गई, क्योंकि गुरुताका बाधक रागादिक अशुद्ध परिणाम है। तब जानें कि इससे कहीं गुरुता नहीं नष्ट हो जाती। हाँ कोई विशेषता जगती भी हो अन्य कुछ लोगोंकी अपेक्षा, किन्तु रागादिक, क्रोधादिक भाव विशेष पाये जाते हों तो वह गुरु नहीं कहा जा सकता। तो गुरुताका विनाश करने वाले तो रागादिक भाव हैं और रागादिकका कारण मोहनीयकर्म है। तो जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय है और चारित्रमोहनीय कर्मके भी संज्वलन मात्रको छोड़कर शेष सभी दूर हो गए हैं तो ऐसे गुरुजनोंमें गुरुता अवश्य है। छद्मस्थ होनेके कारण वे गुरु नहीं हैं, यह बात शङ्का युक्त नहीं है। हाँ यह कह सकते हैं कि वे परमगुरु नहीं हैं। परमगुरु वीतराग सर्वज्ञदेव ही होते हैं, किन्तु छठे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तकके सब मुनि गुरु कहलाते हैं।

नान्वावृत्तिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ।।६३१।।

गुरुवोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वीर्यान्तरायका सद्भाव होनेसे शुद्धता न हो सकने की शंकाकारकी आरेका—अब यहाँ शंकाकार अपनी दूसरी शङ्का रख रहा है कि गुरुजनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म तो मौजूद हैं, क्योंकि इनका विनाश १२वें गुणस्थानके अन्तमें होता है। जब तक ये तीनों कर्म बाकी रह गए हैं तब तक शुद्धता कैसे प्रकट हो सकेगी? शुद्धताके ही कारण तो उनमें गुरु बताया जा रहा है। यद्यपि दर्शनमोहनीयकर्म का अनुदय है, तो रहा आये, और संज्वलन कषायका और ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तरायका सद्भाव पाया जा रहा है अथवा अन्य ऊपरके गुरुवोंमें देखा जाय तो मोहनीय कर्म उनके बिल्कुल नहीं रहा, लेकिन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका विपाक होनेसे उनमें भी शुद्धता कैसे कही जा सकती है? जिसके कारण उनको गुरु बताया जा रहा है। तो जब शेष ३ घातिया कर्म रह गए हैं, उनका विपाक चल रहा है तो उनमें शुद्धता नहीं मानी जा सकती शुद्धता न होनेके कारण उनमें गुरुता भी नहीं मानी जा सकती।

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ।।६३२।।

उक्त कर्मत्रिव के बन्धोदयसत्त्वक्षयोंकी मोहकर्माविनाभूतता बताकर शङ्काकारकी उक्त आरेकाका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें कह रहे हैं कि शङ्काकारकी यह शङ्का कि गुरुजनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तिराय कर्मका सद्भाव है, सो इतनी बात तो ठीक है। सद्भाव अवश्य तीन घातिया कर्मोंका है, लेकिन इन तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीयकर्मके साथ अविनाभावी है, अर्थात् मोहनीयकर्मका विपाक होनेपर इन तीन कर्मोंकी प्रबलता चलती है। मोहनीयकर्मका विनाश होनेपर ये तीनों कर्म भी विनष्ट हो जाया करते हैं। तो इन तीनों कर्मोंका मोहनीय कर्मके साथ कैसा अविनाभावीपना है अर्थात् तीनों कर्मोंके बन्ध, उदय, सत्त्व मोहनीय [कर्मके बलपर रहना कहा है और इन तीनों का क्षय मोहनीयकर्मके साथ कहा है, अविनाभावी है, इस बातको स्पष्ट रूपसे अगले श्लोकमें बताया जा रहा है।

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥६३३॥

मोहकर्मके बन्ध, सत्त्व, उदय व क्षय होनेपर कर्मत्रिकके यथायोग्य बंध, सत्त्व, उदय व क्षय होनेका कथन—मोहनीयकर्मका बन्ध होनेपर ही तो उसीके आधीन ज्ञानावरणादिक बंध योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है। मोहनीयकर्म जहाँ तक बँध रहा है वहाँ तक ज्ञानावरण आदिक कर्म विशेष रूपसे बँधते हैं। जहाँ मोहनीयकर्मका बन्ध मिटा, भले ही कुछ समय तक ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध हो, लेकिन वह अति निर्बल बन्ध है। तो मोहनीयकर्मके बन्धके साथ ज्ञानावरण कर्मके बन्धका बल चलता है, इसी तरह मोहनीयकर्मके सत्त्व होनेपर ही ज्ञानावरण आदिक कर्मोंका सत्त्व रहता है। दर्शनमोहनीय कर्मका सत्त्व जहाँ तक है वहाँ तक ज्ञानावरण आदिक कर्मोंका सत्त्व बड़ी खूबीके साथ बन ही रहा है, पर दर्शनमोहनीयका अनुदय होनेपर चारित्र मोहका जहाँ तक सत्त्व चल रहा है या दर्शनमोहनीय कर्मका जहाँ क्षय भी हो चुका है और चारित्रमोहका जहाँ तक सत्त्व चल रहा है वहाँ तक ज्ञानावरणकर्मका सत्त्व बना हुआ है। हाँ १२वें गुणस्थानमें चारित्रमोहका सत्त्व नहीं रहा, तिसपर भी जो ज्ञानावरण आदिकका सत्त्व है वह मात्र अन्तर्मुहूर्त तकके लिए है। उन सत्त्व प्रकृतियोंका क्षय नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें हो जाता है। इस तरह मोहनीयकर्मका सत्त्व न रहनेपर ज्ञानावरणादिक कर्मों का सत्त्व भी नहीं रहता है। यों मोहनीयकर्मके सत्त्वका अविनाभावी ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका सत्त्व सिद्ध हो जाता है। जहाँ तक मोहनीयकर्मका उदय चल रहा है वहाँ तक ज्ञानावरणादिक कर्म भी पकते हैं अर्थात् ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सही विपाक जिसका कि फल इस जीवको अनुभवमें रहता है वह मोहनीयकर्मके उदयके साथ बना हुआ है। १२वें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका उदय नहीं है और ज्ञानावरण आदिक तीन घातिया कर्मोंका उदय

है, सो वह उदय कोई फलवान नहीं है, निष्फल होकर खिरता है । १३वें गुणस्थानका विकास हो जाता है, इसी तरह जबकि मोहनीयकर्मके बंधका सत्त्व, उदय और क्षयके साथ ज्ञानावरण आदिक कर्मका बन्धादिक लगा हुआ है तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ मोहनीयकर्मका अनुदय हो गया या अति मंद उदय चारित्रमोहका हो गया तो वहाँ ज्ञानावरण आदिक कर्मके रहते हुए भी वहाँ गुरुता समाप्त नहीं होती है । वे अपनी शुद्धताके कारण गुरु ही कहलाते हैं ।

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामवर्गेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ।।६३४।।

छद्मस्थावस्थामें मोहक्षय होनेपर कर्मत्रिकके क्षयकी विधिकी जिज्ञासा व समाधान— अब यहाँ शङ्काकार तीसरी आशङ्का रख रहा है कि छद्मस्थ अवस्थामें मोहनीयकर्मका क्षय तो पहिले हो जाता है और ज्ञानावरणका क्षय बादमें होता है । जैसे दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय चौथे गुणस्थानसे ७वें गुणस्थानके अंदर किसी भी स्थानमें हो जाता है, पर ज्ञानावरण आदिक कर्मका क्षय तो १२वें गुणस्थानके अन्तमें होता है । इसी तरह दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय हो जानेपर भी चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चल रहा है । सो चारित्रमोहनीयकर्मका क्षय विशेषतः १२वें गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है, पर ज्ञानावरण आदिक ३ घातिया कर्मोंका क्षय १२वें गुणस्थानके अन्तमें हो पाता है । तो कुछ समय ऐसी छद्मस्थ अवस्थामें जहाँ कि मोहनीयकर्म का क्षय हो चुका, पर ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका क्षय अभी नहीं हुआ । फिर कैसे कहा जा रहा है कि मोहनीयकर्मके क्षयका अविनाभावी ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका क्षय है ? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि मोहनीयकर्मका समस्त क्षय हो जानेपर ज्ञानावरणादिकका समस्त क्षय नहीं होता, लेकिन अंशतः क्षय तो बराबर होता ही जा रहा है । जहाँ सर्वसंक्रमणके रूपसे हो-हो करके निर्जरा हो जाती है वहाँ तो अंशतः ज्ञानावरणादिकका क्षय प्रकट प्रसिद्ध ही है । अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिकका भी अंश रूपसे क्षय हो जाता है । दर्शनमोहनीयका क्षय होनेके बाद चारित्रमोहनीयकर्मका आंशिक क्षय बराबर होता रहता है, और उसीके साथ ही साथ ज्ञानावरणादिक कर्मोंका भी अंशतः क्षय होता जा रहा है । तो मोहनीयकर्मके आंशिक क्षयके साथ-साथ ज्ञानावरणादिकका आंशिक क्षय बराबर चल रहा है । इस कारण यह कथन संगत है कि मोहनीय कर्मके क्षयका अविनाभावी है ज्ञानावरणादिक तीन कर्मोंका क्षय । यों द्वितीय शङ्का निर्मूल हो जाती है कि ३ आवरण जब रह जायेंगे तो कैसे उनमें गुरुता कही जायगी ? गुरुता होती है दोषोंके विनाश से । तब कुछ समय तक अल्पज्ञता बराबर बनी रहे, लेकिन रागादिक दोष न होके कारण वे गुरु ही कहलाते हैं ।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥६३५॥

सम्यग्दृष्टिके कर्मनिर्जरणकी सिद्धि—सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है, यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्धान्त शास्त्रमें भली-भाँति प्रसिद्ध है । जब दर्शन मोहकर्मका उदय नहीं रहता है उस समय इस जीवके असंख्यात गुनी निर्जरा होने लगती है । करणानुयोगमें यह भली-भाँति बताया गया है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय असंख्यात गुनी निर्जरा होती रहती है । इसी प्रकार चारित्रमोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशमके समयमें भी असंख्यातगुनी निर्जरा होती रहती है और सामान्यतया सम्यग्दृष्टि जीवके तो निरन्तर ही निर्जरा चल रही है । सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मकी निर्जरा होती है और कोई समय ऐसा आता है कि समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है । तो सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध नहीं है । और यह होता है निर्दोष भावके कारण, अतः निर्दोष भाव ही गुरुओंकी गुरुताका कारण होता है ।

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥६३६॥

ज्ञानदर्शनावरक व वीर्यविध्वंसी कर्मका सद्भाव होनेपर भी रागद्वेष मोहके अभावमें गुरुताकी सिद्धि—पहिले कही हुई तीन शंकाओंके समाधानके बाद निष्कर्ष यह समझ लेना चाहिए कि छद्मस्थ गुरुवोंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय आदिक कर्मों का सत्त्व पाया जा रहा है, फिर भी रागद्वेष मोहादिकका वहाँ अभाव है, इस कारण उनमें गुरुपना माना ही जाना चाहिए । सारांश यह है कि निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह जिनलिङ्ग धारण करने वाले गुरुवोंमें गुरुता इस कारण है कि वहाँ रागद्वेष मोहादिकका अभाव है । कुछ अंशों में रागद्वेष रहा है तो वह इतना बलवान नहीं है कि उसका कोई व्यावहारिक रूप बने । इस कारण रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे उनमें गुरुता बराबर मानी जा रही है । तब न तो यह आशङ्का रखनी चाहिए कि वह तो अल्पज्ञ हैं, तीनों लोकालोकके जाननहार नहीं हैं । फिर उनमें गुरुता किस प्रकार मानी जा रही है ? और न यह ही शङ्का रखनी चाहिए कि गुरु जनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका सत्त्व मौजूद है तो उनमें गुरुता कैसे मानी जा सकती है ? और न यह आशङ्का रखनी चाहिए कि गुरुजनोंमें दर्शनमोहनीयका क्षय भले ही हो गया हो और चारित्रमोहका भी क्षय हो चुका हो । फिर भी कुछ समय ऐसा रहता है कि जहाँ ज्ञानावरणादिक कर्मोंका क्षय नहीं होता है तब ऐसी स्थितिमें उन्हें गुरु कैसे माना जायगा ? ये तीनों शंकायें असंगत हैं । इसका कारण यह है कि उन निर्ग्रन्थ यथाजात रूपधारी पूज्य पुरुषोंमें गुरुता रागद्वेष मोहके अभावसे मानी गई है, और रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे

उनमें ज्ञानको स्वच्छता प्रकट हुई है, इस कारण वे गुरु कहलाते हैं।

यथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात् त्रिधा गुरुः।
एकोप्यग्निर्यथा तार्णः पार्णो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥६३७॥

सामान्यतया एकविध गुरुओंमें उनकी विशेषतासे त्रिविधता—गुरुका लक्षण बताया गया है कि जिसमें रागद्वेष मोहादिक न हों वह गुरु है। तो ऐसे परमगुरु तो अरहंत भगवान हैं और एकदेशगुरु आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी हैं। गुरुके मायने हैं बड़ा। तो सबसे बड़ा कौन है यहाँ? वैसे सबसे बड़े गुरु तो हैं सिद्ध भगवान, लेकिन सिद्ध भगवानका न तो उपदेश मिला, न उनके दर्शन होते, न उनकी कोई मूर्ति है, न किसी प्रकारसे उनका व्यवहार चलता। वे तो ध्यानके विषयभूत हैं। तो जो दर्शनमें भी आयें, जिनकी वाणी सुननेको भी मिले, ऐसे गुरु तो हैं अरहंत भगवान। उन्हें तो परमगुरु कहते हैं और उनके नीचेमें गुरु कहलाते हैं निर्ग्रन्थ गुरु, क्योंकि अरहंत भगवानमें जो भी गुण पाये जाते हैं वे एकदेशगुण गुरुओंमें भी पाये जाते हैं। जैसे अरहंत भगवानके राग बिल्कुल नहीं है, पूर्ण वीतरागता है तो गुरुओंके एकदेश वीतरागता है। अरहंत भगवानका ज्ञान स्वच्छ है, तो गुरुओंका एकदेश ज्ञान स्वच्छ है। एकदेशका मतलब है थोड़ा स्वच्छ, मगर उनका झुकाव पूर्ण स्वच्छताकी ओर है। इन संसारी जीवोंकी अपेक्षा वे वीतराग हैं, और उनसे अधिक पूर्ण वीतराग हैं अरहंत भगवान, इसलिए वे परमगुरु कहलाते हैं। दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्र भगवानका जो रूप है वही रूप इनका है, और इनको (गुरुवोंको) जिनलिङ्गधारी भी कहते हैं। जो जिनेन्द्र भगवानका लिङ्ग है उसे धारण करने वाले गुरु कहलाते हैं। यों गुरु ये साधु परमेष्ठी हैं। तो इन गुरुओंके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि गुरुओंमें भी सामान्यतया एक गुरुत्व है, चाहे आचार्य हों, चाहे उपाध्याय हों अथवा साधु हों, सभीमें एक जैसी गुरुता पायी जाती है। जैसे कि कई प्रकारकी अग्नि हो, कोई पत्तेकी आग है, कोई कोयलेको, कोई कंडेकी अथवा कोई लकड़ीकी, तो भले ही वे विभिन्न प्रकारकी अग्नि हैं, लेकिन उन सब अग्नियोंमें अग्निपना एक है। चाहे जिस अग्निपर हाथ धरें, सभीमें हाथ जल जायगा। सभी अग्नि एक जैसी प्रकाशमान हैं। तो जैसे विभिन्न प्रकारकी अग्नि होनेपर भी उनमें अग्निपना समान है, इसी प्रकार जो तीन प्रकारके गुरु हैं उनमें गुरुपना समान है। कैसे गुरुपना समान है और कैसे उनमें तीन भेद पड़े हैं, इसका वर्णन स्वयं ही आगे आयगा।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥६३८॥

आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीनों मुनिकुञ्जरोंमें गुरुता—गुरु तीन प्रकारके हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये तीनों ही मुनि व्यवहारतः विशेष-विशेष पदोंपर नियुक्त हैं

तो उन विशेष-विशेष पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकार बनते हैं। उनके क्या विशेष पद हैं, क्या विशेष कार्य हैं, इसका वर्णन आगे आयगा। वहाँ यह बात जाननेमें आ जायगी कि आचार्यका क्या कार्य है, उपाध्यायका क्या कार्य है और साधुका क्या कार्य है? तो यद्यपि कुछ अवस्थाओंमें उनके ३ प्रकारके कार्य हो जाते हैं, फिर भी गुरुता उनमें समान है। मोक्षमार्गके लिए आगे बढ़ना, वीतरागताकी वृद्धि होना आदि ये सब तीनोंमें एक समान पाये जाते हैं। ये तीनों ही जब ध्यानमें स्थित हो जायें, इनके शुक्लध्यान हो जाय तो तीनोंका ही मोक्ष हो सकता है। यहाँ ऐसा नहीं है कि साधुको मोक्ष हो और आचार्य, उपाध्यायको न हो। ग्रंथोंमें यद्यपि यह वर्णन है कि आचार्य महाराज अंतमें आचार्य पद छोड़कर फिर अपने ध्यानमें मग्न रहते हैं, लेकिन कोई आचार्य अपना आचार्यपद न छोड़ सके और उसका ध्यान बन जाय तो उसके भी मोक्ष होनेमें रुकावट नहीं है। यह एक मार्ग बताया है कि निर्विकल्प ध्यान निरन्तर रखनेके लिए आचार्य भी आचार्यपद दूसरेको दे दे, फिर निर्विकल्प होकर साधना करे, लेकिन आचार्यमें इतनी सामर्थ्य है कि सब साधुवोंकी संभाल करे और साधुवोंके समान अपने अन्तरङ्गमें आत्मविकासकी बुद्धि करते रहें, ऐसी विशिष्ट सामर्थ्य है और ऐसी सामर्थ्य वाले साधु ही आचार्य बनाये जाते हैं। तो आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों मुनिश्रेष्ठ विशेष पदोंपर आरूढ़ हैं, फिर भी इन तीनोंमें गुरुपना समान है। इस बातको अब आगे बता रहे हैं।

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको वहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥६३९॥

आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीनों गुरुओंमें हेतु, क्रिया, वेष, तप व व्रतकी समानता—आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन तीनोंका हेतु एक ही है। ये तीनों अवस्थायें किस कारणसे अंगीकार की गई हैं, उनका कारण एक है।....क्या?....संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होना, और इतना वैराग्य बढ़ा कि बाह्य आलम्बनोंसे प्रयोजन न रहा और एक अपने आत्मध्यानकी धुन बनी। तो यह हेतु यह कारण तीनोंमें एक समान है। इसी प्रकार तीनोंकी क्रिया भी एक समान है। तीनों पंच आचारोंका आचरण करते हैं, तीनों ही २८ गुणोंका पालन करते हैं, तीनों ही आत्मध्यानमें निरत रहा करते हैं। इस प्रकार इन तीनोंकी क्रिया भी समान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें यद्यपि किसी विशिष्ट प्रयोजनसे भेद हो गया है, लेकिन मूल बात तीनोंमें समान है। भेष ही इन तीनोंका (आचार्य, उपाध्याय और साधुका) एक समान है। १२ प्रकारके तपश्चरणोंका आचरण तीनोंमें समान बताया गया है, इसलिए गुरुतामें क्या अंतर आया? तीनों ही एक समान गुरु कहे गए हैं। तो तीनोंका व्रत भी समान है, और वे व्रत जो ५ प्रकारसे बताये गये हैं वे भी सबमें समान पाये जाते

हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति, पंचाचार, १० धर्म आदिक जितने भी साधुके आवश्यक कर्तव्य बताये गए हैं वे सब समान पाये जाते हैं। इस कारण तीनोंमें गुरुता एक समान है।

त्रयोदश विधं चापि चारित्रं समतैकधा।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोप्येकधा मतः ॥६४०॥

मुनित्रयमें चारित्र, समता, मूलगुण, उत्तरगुण व संयमकी समानता—और भी समानता देखिये—आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंके भी १३ प्रकारका चारित्र कहा गया है, वह तीनोंमें समान है। आचार्य भी ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिके धारक हैं। उपाध्याय और साधु भी ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिके धारक हैं। चारित्र भी तीनोंमें समान है। समता भी तीनोंमें एक प्रकारकी है। रागद्वेषसे रहित होकर एक ज्ञायकस्वभावकी आराधना करना, ये तीनोंमें एक समान पाये जाते हैं। इस कारण ये तीनों ही एक हैं, गुरु हैं, समान हैं। मूल गुण और उत्तर गुण भी एक ही प्रकारसे है। २८ मूल गुण आचार्योंके हैं, उपाध्यायके और साधुवोंके भी हैं। तीनों ही बराबर २८ मूल गुणोंका पालन करते हैं। एक व्यावहारिक विशेषताके कारण मूल गुणोंमें आचार्य और उपाध्यायमें भिन्नता कही गई है, लेकिन मूल प्रयोजन मोक्षमार्गमें जो कुछ है वह मूल गुण तीनोंमें एक समान है। इसी प्रकार जब उत्तर गुणोंमें बढ़ते हैं तो वे सब उत्तरगुण भी तीनोंके लिए एक समान कहे गए हैं। संयम भी एक ही प्रकारका माना गया है। निश्चयसे तो संयम यही है कि ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानको संयत करना और व्यवहारसे संयम सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र आदिक ये सब एक समान पाये जाते हैं। इस कारणसे ये तीनों ही एक समान गुरु हैं। जैसे पहिले अरहंत और सिद्ध भगवानमें देवपना एक समान बताया था कि देवत्वबुद्धिसे दोनों ही बराबर हैं, फिर भी कुछ बाहरी बातोंका भेद था, इस प्रकार इन ३ प्रकारके गुरुओंमें गुरुपना समान है, मात्र एक व्यावहारिक रूप प्रवृत्तिमें कुछ भेद आया है, पर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे तीनोंमें एक प्रकारकी बात है।

परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम्।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥६४१॥

मुनित्रयमें परीषहसहन, उपसर्गसहन, आहारादिविधि व चर्या स्थान आसन आदिकी समानता—परीषहका सहन करना, उपसर्गका सहन करना, ये तीनोंके एक समान माने गए हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंपर कोई उपसर्ग आ जाय तो तीनों ही एक समान रूपसे सहन करेंगे। वहाँ भेद नहीं पाड़ा गया है। इसी प्रकार आहार आदिककी विधि भी तीनोंकी एक समान है। जिस चर्याविधिसे आहार करेंगे, जैसा निर्दोष निरंतराय आहार साधु करेंगे

वैसा ही आचार्य और उपाध्याय करते हैं। तो आहार आदिक विधिकी दृष्टिसे इन तीनोंमें अंतर नहीं है, एक समान है। इसी तरह चर्या, स्थान, आसन, उठना-बैठना आदिक सब एक समान है, अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनों एक समान रूपसे गुरु कहे गए हैं।

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्वहिस्स्थितम् ॥६४२॥

आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों गुरुवरोंमें रत्नत्रयकी समानता—मोक्षका मार्ग तीनोंमें समान है। मोक्ष कहते हैं अष्टकर्मोंसे और शरीरसे छुटकारा पा लेनेको। तो ऐसी मुक्ति तीनोंमें समान है। मोक्षका मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो यह मोक्षका मार्ग तीनोंमें एक समान पाया जाता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी धारा जैसे साधु महाराज हैं, ऐसे ही इन तीनोंमें रत्नत्रयकी भी समानता है और अन्तरङ्गमें जो ज्ञानस्वरूपकी ओर ज्ञान रहता है, उपयोग रहता है, यह अन्तःसंयम, अन्तःध्यान भी तीनोंमें एक समान है, इस कारण ये तीनों ही गुरु कहलाते हैं।

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥६४३॥

मुनित्रयमें स्वरूपाचरण व चतुर्विधाराधनाकी समानता—जो साधुवोंके आचरण बताये हैं तो वह स्वरूपाचरण इस प्रकार कहा कि वह ही ध्यान बना, वह ही ध्याता बना और वह ही ध्येय हुवा, वही ज्ञान हुवा, वही ज्ञाता हुवा, और वही ज्ञेय हुआ। तो यह स्वरूपाचरण तीनोंमें एक समान पाया जाता है। आचार्य भी ध्यान, ध्याता, ध्येयकी एकता करता है और उपाध्याय, साधु भी ध्यान, ध्याता, ध्येयकी एकता करता है। इस कारण इस स्वरूपाचरणकी दृष्टिसे तीनों एक समान हैं। इन गुरुवोंके लिए चार प्रकारकी आराधना बतायी गई है—सम्यक्त्वकी आराधना, ज्ञानकी आराधना, चारित्रकी आराधना और तपकी आराधना। तो ये चार प्रकारकी आराधनायें भी तीनोंमें एक समान कही गई हैं। सभी गुरु एक प्रकारसे ही चार प्रकारकी आराधनायें करते हैं, इस कारण आराधनाकी अपेक्षा भी इन तीनोंमें विशेषता नहीं है अर्थात् एक समान है। इसी प्रकार यह उपदेश किया गया है कि साधुपरमेष्ठी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक चार प्रकारकी कषायोंको जीतते हैं और उनको उत्तरोत्तर जीतनेमें प्रगति रखते हैं। तो ऐसी कषायोंको जीतनेकी प्रकृति तीनोंमें एक समान पायी जाती है अर्थात् ये तीनों परमेष्ठी कषायविजयी होते हैं, इस कारण इनमें गुरुपना एक-समान पाया है।

किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥६४४॥

आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंमें गुणोंकी समानताके कथनका उपसंहार—आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीमें गुरु एक समान हैं, इस सम्बन्धमें ज्यादा क्या कहा जाय ? इतनेसे ही सब समझ लेना चाहिए। अगर इससे अधिक कुछ कहना चाहते हो तो यह कहा जा सकता है कि इन तीनोंमें कोई आपसमें फर्क नहीं है। तीनोंमें गुरुता एक समान है। यह विशेषता बराबर तीनोंमें पायी जा रही है। आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंके नाम क्यों अलग हैं ? इसका कारण यह है कि इन तीनोंके कुछ कार्य भी अलग हैं। तीनोंके कुछ कार्य जो कुछ अलग माने गए हैं वे व्यवहारमें तीर्थ चलानेके लिए बनाये गए हैं। अब मोक्षमार्गमें चलनेकी दृष्टिमें इन तीनोंमें एक ही प्रकारका मोक्षमार्ग पाया जा रहा है, उसमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं है, इस कारण तीनों परमेष्ठियोंमें गुरुपना एक समान है।

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

रूढ़ि व योग दोनों अपेक्षाओंसे आचार्यकी निरुक्ति—आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंमें ये संज्ञायें, ये नाम अनादिपरम्परासे चली आ रही हैं। आचार्य नाम भी अनादिपरम्परासे रूढ़ है और आचार्यपनका जो अर्थ है उसकी दृष्टिसे भी आचार्य नाम सही बैठता है। रूढ़ि वाला आचार्य पद है, इसमें तो कोई कारण नहीं बताया जाना चाहिए। हाँ यौगिक दृष्टिसे आचार्य नाम क्यों है ? इसका कारण है कि ये आचार्य परमेष्ठी स्वयं पंचाचारोंका आचरण करते हैं और अन्य साधु जनोंसे आचरण कराते हैं, इस कारण इन्हें आचार्य, यौविक अर्थसे कहा गया है। और स्वयं पंचाचारोंको करें और दूसरोंको आचार करायें तो आचार्य परमेष्ठी स्वयं पंचाचरणोंमें आचरण करते हैं और साधु भी इस दृष्टिसे समान है, पर आचार्यकी ऐसी विशिष्ट जातिकी कारुण्यबुद्धि है जिससे रत्नत्रयकी दृष्टि रखकर उसे भी उपदेश करते हैं तो यद्यपि इस तरहका शुभराग उनके है, ऐसे शुभराग साधुवोंमें भी पाये जा सकते हैं, इस कारण शुभरागके कारण आचार्य और मुनिमें अन्तर नहीं किया जा सकता है। गुरुता तीनोंमें समान है, पर आचार्यमें इतनी बड़ी सामर्थ्य है कि अन्य साधुजनोंके वात्सल्यका उनको आचरण करानेका उपदेश करते हैं, तिसपर भी उनके आत्मामें बाधा नहीं पहुंचती है। जब लोग इस दृष्टिसे देखते हैं कि हम लोग जैसे कार्य करते हैं—मकान बनाया या दुकान बनाया आदि तो इसमें इसको मूलसे राग करना पड़ता है तब सफल होते हैं, लेकिन इस तरहका मौलिक राग उन्हें नहीं करना पड़ता है। उनका यह शुभराग इतना सूक्ष्म और बाह्य है कि उसके कारण आत्माके मोक्षमार्गके चलनेमें बाधा नहीं आती, इस कारण शुभराग अवश्य है, पर ऐसा शुभराग साधुजनोंमें भी पाया जाता है। उस रागसे परमेष्ठियोंमें बाधा नहीं आती।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छति ।
ततसमादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ।।६४६।।

आचार्यमें छिन्नव्रती साधुवोंको प्रायश्चित्तदान करनेकी विशेषता—आचार्य परमेष्ठी गुरुपनेसे साधु जनोंके ही समान हैं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे यौगिक अर्थसे आचार्यकी क्या विशेषता है, यह बताया जा रहो है। तो उक्त श्लोकमें बताया था कि आचार्य परमेष्ठी स्वयं ५ आचारोंका पालन करते हैं और दूसरोंसे पालन कराते हैं। अब इस श्लोकमें और विशेषता बतायी जा रही है कि ये आचार्य परमेष्ठी साधु परमेष्ठीको प्रायश्चित्त दान भी करते हैं। किसी साधुका व्रत भंग हो जाय और व्रत भंग होनेपर भी वह साधु पुनः उस व्रतमें जुड़ना चाहता है, जैसे पहिले निर्मल व्रत धारण किया था उस प्रकारके निर्मल व्रतको पाना चाहता है ऐसे साधुको आचार्य फिरसे व्रत धारण कराते हैं और उनको प्रायश्चित्त देते हैं। उक्त श्लोकमें पंचाचारोंके पालन करानेकी बात थी, जिसका सम्बन्ध दीक्षासे था कि आचार्य दीक्षा देते हैं और इस श्लोकमें बताते हैं कि दीक्षाके अतिरिक्त वे प्रायश्चित्तका भी दान करते हैं। प्रायश्चित्त प्रदान आचार्य करते हैं तो ऐसे नियमके भंगका प्रायश्चित्त देते हैं कि साधु उस नियम का पालन करते हुए थोड़ा उससे चिग जाय, उसका प्रायश्चित्त होता है। जो ऐसा भाव रखे कि हम प्रायश्चित्त लेकर भंग कर लें, ऐसे नियमका पालन करते हुए यदि कोई एक देश भंग हो जाय तो ऐसे भंगोंका भी प्रायश्चित्त हुआ करता है। तो इस तरह आचार्य परमेष्ठी दीक्षा देते हैं, साधु जन दीक्षा नहीं देते। आचार्य परमेष्ठी प्रायश्चित्त देते हैं, साधु जन प्रायश्चित्त नहीं देते हैं। इन दो विशेषताओंके अतिरिक्त तीसरी विशेषता है कि आचार्य परमेष्ठी आदेश प्रदान करते हैं जब कि साधु जन आदेश प्रदान नहीं करते। हाँ साधु जन उपदेश दे सकते। इस तीसरी विशेषताको आगेके श्लोकमें कहेंगे।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ।।६४७।।

आदेश और उपदेशमें अन्तर—आचार्य परमेष्ठी स्वयं ५ आचारोंका आचरण करते हैं और दूसरे साधुवोंको आचरण कराते हैं अर्थात् दीक्षा देते हैं, यह उनका विशेष कार्य है। साथ ही प्रायश्चित देना भी उनका विशेष कार्य है और तीसरी बात इस श्लोकमें बतायी जा रही है कि आदेश देना आचार्यका विशेष कार्य है। आदेश और उपदेशमें अन्तर है। आदेश देनेपर साधु उस आदेशको ग्रहण करते हैं। गुरुके दिये हुए व्रतको मैं ग्रहण करता हू, इस प्रकार आदेश लेने वालेकी प्रतिज्ञा होती है, पर उपदेशमें यह विधि नहीं है। आदेश और उपदेशमें यह अन्तर है कि जिस बातका आदेश दिया हो वह आज्ञारूप होती है। जिसे आदेश दिया गया हो उसको ग्राह्य करना ही पड़ता है, परन्तु उपदेशमें आज्ञारूप ग्रहण करना पड़े,

ऐसा वहाँ नियम नहीं है। आचार्यको आज्ञा देनेका अधिकार है। वह जिस बातका आदेश करे वह आज्ञा प्रधानरूपसे माननी ही होती है, पर उपदेशमें आज्ञा प्रधान नहीं होती। शक्ति अनुसार कोई करना चाहे तो करता है, न करना चाहे तो नहीं करता है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥६४८॥

दीक्षाचार्यकी तरह गृहस्थाचार्यकी भी आदेशदानाधिकारिताका संकेत—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि जिस तरह आचार्यको आदेश देनेका अधिकार है, इसी प्रकार गृहस्थाचार्यको भी गृहस्थोंको आदेश देनेका अधिकार है। आचार्य तो साधुवर्गको आदेश देते हैं और गृहस्थोंको भी आदेश दें तो उन्हें भी उस आदेशको ग्रहण करना चाहिए, परन्तु गृहस्थाचार्य गृहस्थोंको गृहस्थोंके योग्य कार्योंके लिए आदेश दिया करते हैं। तो ऐसा गृहस्थाचार्य जो कि आदेश देगा, वह व्रत धारण करने वाला होता है। तो व्रत धारण करने वाले गृहस्थोंको अर्थात् गृहस्थाचार्योंको भी अधिकार है कि वे गृहस्थोंको आदेश दें और गृहस्थ उनके आदेशको पाकर उस प्रकारका बर्ताव करें। जैसे कि दीक्षाचार्य अर्थात् आचार्य परमेष्ठीके दिए हुए आदेशोंको मुनिजन नियमसे ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार गृहस्थाचार्य-जनोंकी वृत्ति है। उसके किए हुए आदेशको गृहस्थ-जन भी ग्रहण करते हैं। धर्मप्रवृत्तिमें कितनी सुन्दर व्यावहारिक व्यवस्था है जिस व्यवस्थाके कारण संगठन एकता एक रूप प्रवृत्ति ये सब व्यवस्थायें साधुवोंमें भी रहती हैं और गृहस्थोंमें भी रहा करती हैं। इस व्यवस्थाके विपरीत जब उद्दण्डता छा जाती है साधु जनोंमें अथवा गृहस्थ जनोंमें तब उससे धार्मिक शिथिलता अनर्गल प्रलावको उत्पन्न करती है और निरंकुश प्रवृत्ति बन जाती है, जिससे सामाजिक व्यवस्थाके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था भी समाप्त हो जाती है। अनेक पंथोंके उदय इस फूटके कारण ही हुआ करते हैं। कोई बात न रुचो तो उस प्रसंगमें ऐसा कोई स्वीकार तो नहीं करता कि रुचे अथवा न रुचे, यह तो आचार्यका आदेश है, इसको करनेमें ही भलाई है, इसके विपरीत कुछ भी न किया जाना चाहिए, जहाँ यह चिन्तन न रुका, स्वच्छन्दता हो गयी वहाँ ही अनेक विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। तो साधु जनोंमें तो दीक्षाचार्यका आदेश चलता है और गृहस्थोंमें व्रती गृहस्थाचार्यका आदेश चलता है।

स निषिद्धे यथाम्नायादव्रतिना मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥६४९॥

अव्रतीमें आदेशदानकी अपात्रता—जो कुछ भी व्रती नहीं है, ऐसे पुरुषको आदेश देनेका अधिकार बिल्कुल नहीं है, और वहाँ भी प्रकृत्या यह बात चलती है कि जो स्वयं उस मार्गपर नहीं चल रहा, व्रतको धारण नहीं कर रहा, उसके आदेशका प्रभाव दूसरोंपर नहीं

पड़ सकता है। तो अब्रती पुरुष आदेश देनेका बिल्कुल अधिकारी नहीं है। तो यों अब्रती गृहस्थ अधिकारी नहीं है आदेश देनेका, यह तो शास्त्रसम्मत बात है ही, पर वार्तालाप भी वह करे तो हिंसक उपदेश वाला वार्तालाप न करे, ऐसी पूर्णतया निषेध्य बात है। हिंसक उपदेश तो किसी तरह न करना चाहिए। अब्रतीको आदेशका अधिकार तो है ही नहीं, पर हिंसक उपदेशके लिए तो वह जिह्वा भी न चलाये। यह एक उसके प्रति धर्मशास्त्रोंमें कठोर उपदेश किया गया है।

मुनिव्रतधराणां हि गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥६५०॥

बधाश्रित आदेश व उपदेश करनेका निषेध—मुनिव्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्य अथवा ब्रत धारण करने वाले गृहस्थाचार्य आदिक सभीके लिए जैनसिद्धान्तका यह आदेश है कि वह बधाश्रित आदेश और उपदेश न करे। जिस आदेश या उपदेशसे जीवोंका बध हो, ऐसा आदेश और उपदेश न तो मुनिवर्गको करना चाहिए और न गृहस्थ ब्रत धारण करने वाले पुरुषको करना चाहिए। अहिंसा मार्गमें बधाश्रित उपदेशकी कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है, जिसमें जीवहिंसा हो, किसीका दिल दुःखे, ऐसा कोई भी आदेश अथवा उपदेश जैनशास्त्र-सम्मत नहीं माना जाता है। तो गृहस्थाचार्य भी बधाश्रित उपदेश नहीं कर सकते और मुनि-ब्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्य भी नहीं कर सकते। यह जैनसिद्धान्तका कठोर हुक्म है।

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्ब्रतधारिभिः।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥६५१॥

बधाश्रित आदेश उपदेशके निषेधकी निरर्थकताकी शंकाकार द्वारा आशङ्का—ब्रत धारण करने वाले मुनिजनोंको भी यह बात कही गई है कि वे बधाश्रित उपदेश न करें। तो जहाँ एक ऐसी आशङ्का हो सकती है कि यह बात तो प्रमाणसिद्ध ही है। मुनिजनोंको बधाश्रित उपदेश तो क्या, जिह्वा भी नहीं हिलाना चाहिए। जो कुछ प्रसिद्ध बात है उसका निषेध करनेका यहाँ कष्ट क्यों किया जा रहा है? मुनिब्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्योंने तो मूर्तिमान पदार्थकी सर्वशक्तियोंको हस्तरेखाके समान जान लिया। तो जो ब्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंका परिज्ञान रख रहे हों, जिनको जीवोंके स्थान, शरीर, कुल, योनि का भली-भाँति परिचय है वे तो सदा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षामें सावधान रहते ही हैं। तो षट्काय जीवोंकी रक्षा उनके जीवनका एक मुख्य प्रवर्तन बन गया है। ऐसे मुनि जनोंको भी बधाश्रित उपदेश करना निरर्थक है। फिर उक्त श्लोकमें यह क्यों कह दिया गया कि मुनिब्रत-धारियोंको बधाश्रित उपदेश न करना चाहिए। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥६५२॥

रागियोंके लिये बधाश्रितादेशोपदेशनिषेधकी आवश्यकता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—प्रकृत प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि मुनिव्रतधारियोंको बधाश्रित आदेश अथवा उपदेश न करना चाहिए। उसका लक्ष्य रागी पुरुषोंके लिए समझना है अर्थात् यह उपदेश रागी जीवोंके लिए कहा गया है। विरागी पुरुषोंके इस प्रकारका भाव ही नहीं होता, और इस तरहका उपदेश उनके रागका कारण भी नहीं हो सकता है। यह उपदेश तो रागी पुरुषों के रागके निषेधके लिए कहा गया, क्योंकि रागियोंके लिए ही रागका कारण हो सकता है, इस कारण बधाश्रित उपदेश न करना चाहिए। आदेश रागियोंके लिए किया गया है। उपदेश जो दिया जाता है उसका लक्ष्य होता है उपदेस्य पुरुषको उन्नत बनानेका। मुनिवरोंका राग तो हीन हो ही गया है, वे मोक्षमार्गके अनुगामी हो चुके हैं, उनको तो सदा विशुद्ध मार्ग का उपदेश दिया जाता है। कैसे आत्मध्यानमें बढ़ें, किस तरह निर्विकल्पसमाधिमें प्रसिद्ध हों, ऐसा उपदेश दिया जाता है। यदि उनको बधाश्रित उपदेश दिया जाय कि जिनपूजन करो, जिसमें कुछ न कुछ आरम्भका दोष लगे, ऐसे ब्रतका उपदेश यदि मुनिजनोंको दिया जाय तो यह उनकी अवनतिका ही कारण बनेगा। इस कारण मुनिजनोंके लिए शुभप्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्ति मार्गका ही उपदेश दिया जाया करता है। अब प्रकृत प्रसंगमें बधाश्रित आदेश उपदेशका जो कथन किया गया है वह गृहस्थोंके लिए दूसरी प्रकारका समझ लेना चाहिए अर्थात् गृहस्थोंमें शुभ प्रवृत्तियाँ बहुत पायी जाती हैं। तो वे अशुभ प्रवृत्तियोंसे हट जायें और शुभ प्रवृत्तियोंमें लगें, इसके लिए आदेश उपदेश दिया जाता है। चूँकि गृहस्थ एकदम शुद्धमार्गमें नहीं लग सकते हैं तो उनको आवश्यक है कि वे शुभ मार्गको कभी ग्रहण करें, इस ही कारण शुभमार्गका उपदेश उनको दिया गया है। जिसमें रंच आरम्भ भी होता हो, किन्तु भक्ति उपदेश आदिक विशेष होता हो तो ऐसा उपदेश उनको दिया जाना उचित है। इसी प्रसंगका विवरण अगले श्लोकमें कर रहे हैं।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥६५३॥

श्रावकोंके लिये सत्पात्रदान व देवपूजनके कर्तव्यके आदेशका अनिषेध—गृहस्थ जनों के लिए सत्पात्रदान और अरहंतपूजाका विधान बताया गया है। यद्यपि दान देना, पूजन करना आदिक आरम्भजनित कार्य हैं, जैसे जिनपूजनमें सामग्री बनायी अथवा जल लाये, कुछ भी क्रिया करे तो वह निरारम्भ स्थिति नहीं है। इसी प्रकार पात्रदान देना, रसोई आदिक का आरम्भक कार्य होना, यह कोई निरारम्भ कार्य तो नहीं है। तो पात्रदान देना, जिनपूजा

करना, ये दोनों ही आरम्भक कार्य हैं। जहाँ आरम्भ है वहाँ हिंसा होना अवश्यंभावी है। जब जिनपूजा और पात्रदानका उपदेश किया जाता हो तो उसे बधाश्रित उपदेश समझना चाहिए। यद्यपि वह निरर्गल उपदेश नहीं है। जीवोंके बधकी बात नहीं कही गई है, केवल एक शुभभाव और प्रभुभक्ति बढ़ानेके साधनकी बात कही गई है। जैसे बताया गया है कि थोड़ा दोष हो और आत्मगुणकी अधिक प्राप्ति हो तो ऐसा दोष अथवा आरम्भ गृहस्थजनोंके लिए बताया भी जा सकता है। तो यों दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें आरम्भजनित दोष लगा तो इतना बधाश्रित उपदेश मुनिजनोंके प्रति नहीं किया जाता, अथवा इतना मात्र ही उपदेश गृहस्थोंके लिए है, किन्तु स्पष्ट बधाश्रित उपदेश बिल्कुल निषिद्ध है अथवा जिनपूजा और पात्रदानके सम्बन्धमें अन्तर्दृष्टिसे विचार करें तो इन दोनोंमें शुभराग होया है और राग हिंसाका रूप है तो अपने आत्मपरिणामोंसे ही हिंसन हुआ। यद्यपि पात्रदान जिनपूजामें जो सिद्ध गुणोंके प्रति अनुराग जगा तो वह गुणके लिए ही है, उससे इस गृहस्थको लाभ ही लाभ है, पर साथ ही उसके साथ शुभराग भी चलता है और रागभाव हिंसारूप है। तो यद्यपि पात्रदान, जिनपूजा आदिक शुभरागके उत्पादक विधान हैं, अतएव वहाँ अपने आपका किसी अंशमें बध है, तो भी गृहस्थोंके लिए पात्रदान, जिनपूजा आदिक शुभकार्य निषिद्ध नहीं हैं, किन्तु विधानमें शामिल हैं। गृहस्थजनोंको प्रधानतया यह उपदेश दिया गया है कि वे चाहे पूजा और दानका आचरण करें और कहा भी है कुन्दकुन्दाचार्य देवने कि—"दानं पूजा मुक्खो" अर्थात् गृहस्थजनोंके दान और पूजा मुख्य कार्य हैं। तो ऐसा आदेश उपदेश करना निषिद्ध नहीं है, इस तरह भी समझ लेना चाहिए, पर इतना भी उपदेश मुनिजनोंके प्रति नहीं किया जाता है, इस बातका निषेध किया गया है।

यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥६५४॥

साधुपरमेष्ठीके लिये निरवद्यकर्मके कर्तव्यके आदेशका ही विधान—अथवा इस प्रसंगको इस तरह घटित करिये कि मुनियोंके लिए सर्वथा निर्दोष कार्य विषयक ही उपदेश किया जाता है। जहाँ पापका लेश भी लगता हो, ऐसा उपदेश मुनियोंको कभी नहीं हो सकता है। मुनिधर्म साक्षात् मोक्षधर्म है। कैसे जन्म मरण आदिक संकटोंसे मुक्ति प्राप्त हो उसका उपाय बताया गया है निर्विकल्पसमाधिभाव। बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प न रहे और ऐसा परविकल्प न रहनेकी स्थितिके कारण स्वतः आत्मामें समाधिभाव जागृत हो अर्थात् ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान मग्न हो जाय, इस स्थितिको पानेके लिए सर्व आरंभ और परिग्रहोंका त्याग किया गया है। तो यों निर्विकल्पसमाधिके उद्देश्यसे समस्त आरम्भ परिग्रहोंके त्याग करने वाले मुनिजनोंको उपदेश निर्वद्य कार्यका ही सही हो सकता है, जिसमें अंतः संयम प्रकट हो, अंदर

की भावना विशुद्ध बने, शुद्ध केवलज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्वका आलम्बन बने, इस प्रकारकी दृष्टि दृढ़ हो, ऐसा ही मुनिजनोंके प्रति किया जाता है। प्रयोजन एक समताका है। समता प्राप्त होती है रागद्वेषके अभावमें। तब रागद्वेषका अभाव जिस तरह बने उस प्रकारका ही उपदेश मुनिजनोंके लिए करना श्रेयस्कर कहा गया है। यह बात बनेगी अध्यात्म उत्साहसे। समस्त बाह्य परिकरका पूज्योपयोग राग अथवा द्वेषके लिए हुआ करता है। कोई बुद्धिपूर्वक किसी इन्द्रिय और मनसे इष्ट अनिष्ट विषयोंका उपयोग करे तो उसका फल गंदा है, निर्विकल्प समाधिभाव होना उसका फल नहीं है और जिस क्रियाका फल समता नहीं है वह क्रिया मुनिवरोंके लिए युक्त नहीं है। उनका संग साथ और अन्तःप्रवृत्ति सभी निर्विकल्प समाधिभाव के लिए होते हैं। आत्मतत्त्व क्या है? एक शुद्ध निर्विकल्प ज्ञायकभाव, जो सहज ज्ञानज्योति-स्वरूप है, आत्माका सहज स्वरूप है, जो न किया गया, न जिसमें प्रवृत्ति हो, जो सर्व अवस्थाओंका आधारभूत है, ऐसे सहज ज्ञायकभावके उपयोगमें परिस्थिति बने, यही तो कार्य मुनिजनोंको करना योग्य है। सो जैसे यह अध्यात्मशक्ति वृध्यंगत हो, इसी प्रकारका उपदेश मुनिजनोंके लिए करना उचित बताया है। जिनपूजा पात्रदान आदिक गृहस्थोचित शुभोपयोग के कार्य मुनिजनोंको बताये जायें, यह बात अयुक्त है, क्योंकि जिनका निर्विकल्पसमाधिके लिए संकल्प है, उनके लिए यह उपदेश बाधक है। वे आरम्भके कार्योंमें लगें तो उससे मुनि-धर्मकी रक्षा नहीं, किन्तु मुनिधर्मका विघात है।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥६५५॥

असंयमी जनोंके साथ संसर्ग व संभाषण करनेका आचार्योंके लिये निषेध—कोई पुरुष ऐसा कहते हैं कि आचार्य महाराज संयमी पुरुषोंके साथ संसर्ग करें, भाषण करें और प्रेम भी करें, किन्तु यह बात युक्त नहीं है। आचार्य पुरुषोंको संयमी पुरुषोंके साथ सम्बंध रखना उचित नहीं है। आचार्यका सम्बन्ध मात्र मनुष्योंके साथ होता है। तो उनका सम्भाषण भी मुनियोंके साथ होता है। जहाँ दस लक्षण धर्ममें सत्य धर्म बताया गया है तो उसके अनुसार भाषण करने वाले साधु पुरुषोंमें ही हित-मित बचन वोलते हैं। सत्य धर्मका सम्बंध केवल अध्यात्म और आध्यात्मिक पुरुषोंसे है, तब ऐसी स्थितिमें आचार्यका सम्बन्ध असंयमी पुरुषोंके साथ होना उचित नहीं है। आचार्यका मुनियोंके साथ जो सम्बंध होता है वह भी धार्मिक सम्बन्ध होता है, रागांशको लिए हुए सम्बन्ध नहीं होता। ये मेरे शिष्य हैं, इनसे मेरी शोभा है, हमें इनको राजी रखना चाहिए, ऐसा सम्बन्ध मुनिजनोंके साथ आचार्य नहीं रखते हैं, उनका धार्मिक सम्बन्ध रहता है। इस कारण जो लोग ऐसा कहते हैं कि आचार्यका संयमी पुरुषोंके साथ भी सम्बंध होता है और उनसे प्रेम भी रखते हैं, तो यह बात असंगत है।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥६५६॥

धर्मादेशोपदेशके सिवाय अन्यविध संघसम्पोषणका आचार्यके लिये निषेध—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आचार्यका काम है संगका पोषण करना, तो उनकी यह बात भी असंगत है। अरे वे संगका पोषण नहीं करते। सभी मुनियोंको अपने-अपने भाग्यके अनुसार आहार प्राप्त होता है। जैसा उनके अन्तरायका क्षयोपशम हो उसके अनुसार व्यवस्था बनती है। उसमें आचार्य क्या करें? और आचार्य उनके खाने-पीनेके सम्बन्धकी चिन्ता नहीं रखते हैं। आचार्यका सम्बन्ध तो मुनियोंके लिए धार्मिक आदेश और उपदेशभरका है, किन्तु सम्पोषण करनेका नहीं। आचार्य मुनिराजोंका पालन-पोषण करते हैं, यह बात असंगत है। आचार्यका तो इतना ही उपकार है कि वे धर्मका आदेश और उपदेश देते हैं। धर्मका पालन-पोषण करना आचार्यका कर्तव्य है, ऐसा जो लोग कहते हैं उन्होंने आचार्य और मुनि दोनोंका ही स्वरूप बिगाड़ दिया। मुनिजन पालन-पोषण किसीसे भी नहीं चाहते हैं। वे स्वयं आतमाकी आराधनाके लिए इतना तत्पर हुए हैं कि वे किसीसे अपना पालन-पोषण नहीं चाहते हैं और न उनके पालन-पोषणका विचार होता है। उनका मुख्य कर्तव्य तो ज्ञाताद्रष्टा रहना मात्र है। जब वे ज्ञाताद्रष्टा नहीं रह पाते हैं तब वे ध्यानके स्थित होते हैं। जब ध्यानमें भी बाधा होती है तो वे अनेक प्रकारके तपश्चरणोंमें रत रहा करते हैं। वें तो केवल शरीरकी परिस्थिति रखनेके लिए आहारके वास्ते नगरमें जाते हैं। वहाँ यदि किसीने नवधाभक्तिपूर्वक आहार दिया और कोई अन्तराय न आया तो जो अन्तरायके क्षयोपशम अनुसार आहार लेकर तृप्त रहते है, अथवा आहार कभी न भी पाया तो भी आहार लिए हुए की भाँति तृप्त रहा करते हैं। मुनियों की वृत्ति तो भिक्षाभोजनकी है। उनको आहारमें राग नहीं होता, लेकिन आहारके लिए बाध्य उन्हें यों होना पड़ता है कि शरीर यदि स्थित न रहेगा तो संयम साधन न बन सकेगा और असमयमें मरण करना अच्छा नहीं होता। तब मुनियोंको जब कोई वस्तुकी आशा ही न रही तो उनकी तो सिंहवृत्ति है, उन्हें कोई याचक समझे तो यह उनकी भूल है। श्रावक भी जब मुनिजनोंको आहार देते हैं तो श्रावक उन्हें पात्र समझकर, भक्ति योग्य समझकर आहारदान देते हैं, न कि उनपर दया करके या उसके पालन-पोषणका ध्यान करके आहारदान देते हैं। भक्ति उपजती है रत्नत्रयकी मूर्ति दिखते हैं तो वे आहार देकर अपना जीवन सफल मानते हैं। तो मुनियोंके पालन-पोषणकी इच्छा नहीं है। तो जो ऐसा कहते हैं कि आचार्य मुनियोंका पालन-पोषण करते हैं, तो उन्होंने मुनिका स्वरूप ही बिगाड़ दिया। मानो उनके कहनेमें यह टपकता है कि मुनि पालन-पोषणकी इच्छासे कि मेरा गुजारा चले, इस कारण आचार्यके साथ रहते हैं, सो बात तो नहीं है। दूसरी बात यह है कि आचार्य यदि

मुनियोंके पालन-पोषणसे सम्बंध रखें तो इसके मायने हैं कि उनके रागांश बढ़ा कुटुम्ब परिजनकी भाँति। तो इससे आचार्यका स्वरूप भी बिगड़ जाता हैं। आचार्य महाराज तो मुनियों के साथ एक धार्मिक सम्बंध रखते हैं। मुनियोंको दीक्षा दें, मुनियोंके आचरणको शिथिल न होने दें, उन्हें सावधान करें, प्रायश्चित दें, तपश्चरणमें लगायें, समाधिमरण करायें, ये काम आचार्यके हैं। पालन-पोषण करनेका काम आचार्यका नहीं है।

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाऽऽचार्योप्यस्ति चान्तर्व्रतच्युतः ।।६५७।।

आचार्य द्वारा मोहसे अथवा प्रमादसे लौकिकी क्रिया की जानेपर व्रतच्युत होनेसे आचार्यत्वका अभाव—अथवा आचार्यका कार्य कोई कहे कि वे मोहके वश होकर अथवा प्रमादसे कुछ लौकिकी क्रियायें भी करते हैं तो उनकी यह बात संगत नहीं है। क्योंकि ऐसा यदि कोई करे, लौकिक क्रियावोंको करे, लौकिक कामोंको करे, यहांके पूजा आडम्बर आदिक में लगे तो आचार्य भी अपनी अन्तरङ्ग वृत्तिसे च्युत हो गये, ऐसा समझना चाहिए। सारांश यह है कि आचार्यका केवल धर्मक्रियावोंसे सम्बन्ध है। आचार्य मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंके शासक हैं, उनके आहार आदिकका इन्तजाम करनेके शासक नहीं हैं। यदि मोहके उद्वेगसे कोई लौकिक क्रियायें आचार्य कर डाले तो समझो कि उस कालमें आचार्यकी वास्तविक पदवी नहीं रही है। उस समय वे आचार्यपदसे गिर चुके हैं और भीतर भी महाव्रतसे हीन हो गए हैं। इस कारण यह समझना चाहिए कि आचार्य महाराजके साथ जो हजारों मुनि रहते हैं तो आचार्य महाराज केवल मुनियोंकी धार्मिक क्रियावोंके शासक हैं, अन्य क्रियायें करने वाले नहीं होते।

उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ।।६५८।।

व्रततपशीलसंयमधारी गणीकी ही गुरुता व नमस्यता—आचार्यके स्वरूपके कथनके प्रसंगमें उपसंहार रूपसे आचार्योंका सामान्यतया गुण व्रतक्रिया आदिककी प्रशंसा रूपसे वर्णन कर रहे हैं कि जो व्रत तप, शील, संयम आदिकको धारण करने वाला हो, ऐसा ही आचार्य हो सकता है। जो स्वयं व्रतसे हीन हो, तपश्चरणमें प्रमादी हो, शील संयमसे च्युत रहता है वह आचार्य तो क्या सामान्यतया धर्मात्मा भी नहीं कहला सकता। तो आचार्य महाराज व्रत तप आदिकमें प्रधान रहते हैं। अन्य साधुवोंसे अधिक विशेषता रहे, ऐसी उनकी वैराग्यवृत्ति रहती है और वे आचार्य महाराज गणि कहलाते हैं, गणके स्वामी कहलाते हैं। बहुतसे मुनि जन आचार्य महाराजकी छत्रछायामें रहकर अपने श्रेयोमार्गकी क्रियायें आचरते हैं। ये ही आचार्य साक्षात् गुरु हैं, परमगुरु तो अरहंत देव हैं, सो वे वीतराग हैं। उसके पश्चात् गुरु हैं

आचार्यदेव। ये निमित्त करने योग्य हैं और ब्रत, तप, संयम आदिक स्वरूपसे भिन्न कोई स्व-रूप धारण करे, ऐसा कोई गणि नहीं कहला सकता है, आचार्य नहीं कहा जा सकता है। आचार्य परमेष्ठीमें साधुके समस्त गुण होने चाहियें।

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः।
वाङ्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥६५९॥
कविर्ब्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्योवक्तृत्ववर्त्मनाम ॥६६०॥

उपाध्यायके विद्यावत्त्व, वाग्मित्व आदि गुणोंका निर्देशन—आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप कहकर अब उपाध्यायका स्वरूप बताया जा रहा है। उपाध्याय परमेष्ठी विद्वानोंके बड़े अधिपति होते हैं और आचार्य महाराज द्वारा उपाध्याय पदपर नियुक्त हुआ मुनि उपाध्याय कहलाता है। ये प्रत्येक प्रश्नका समाधान करने वाले होते हैं। इनके ज्ञानमें इतनी बड़ी क्षमता है कि कोई कैसा ही प्रश्न करे, समस्त प्रश्नोंका ये समाथान कर सकने वाले होते हैं। जब स्याद्वादमें सर्वप्रकारके बनाये गए धार्मिक आचरण सम्बन्धी, वैद्यक सम्बंधी, ज्योतिष सम्बंधी, निमित्त सम्बंधी ऐसे सर्वशास्त्रोंके विद्वान हैं तो फिर सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें ये समर्थ होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठीवादी होते हैं अर्थात् कोई उनसे शास्त्रार्थ करे तो उस शास्त्रार्थमें वे पूर्ण कुशल होते हैं। ये स्याद्वादके विद्वान हैं। स्याद्वादका रहस्य भली प्रकार जानते हैं। प्रत्येक विषयका स्याद्वादकी रीतिसे समाधान करने वाले होते हैं। ये पुरुष वचन बोलनेमें चतुर होते हैं, क्योंकि ये समस्त ब्रह्मके जानकार हैं। यों कहो कि वचन ब्रह्मके विषय में ये सर्वज्ञ कहलाते हैं। इस कारण ये वचन बोलनेमें चतुर हैं और वागब्रह्म सर्वज्ञ हैं। ये सिद्धान्तशास्त्रके पारगामी हैं। जैसे बहुत बड़ा समुद्र हो और उसके पार कोई पहुंचे तो समुद्र का विलोडन करके पहुंचता है, इसी प्रकार ये उपाध्याय सिद्धान्तशास्त्रके, आगमके पार पहुंचने वाले हैं, उस समस्त सिद्धान्तके रहस्यको समझने वाले हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी वृत्ति और अज्ञ सूत्रोंके बड़े विद्वान हैं और वृत्ति और सूत्रोंका शब्द और अर्थ दोनों ही पद्धतियोंसे सिद्ध करने वाले हैं। सिद्धान्त शास्त्रोंमें बड़े-बड़े दिग्गज आचार्योंने संक्षेपमें सूत्र कहे हैं, उन सबके रहस्योंके ये जानकार हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी अर्थके गमक हैं। जो सिद्धान्तसूत्रोंका अर्थ है उन समस्त अर्थोंके बहुत अधिक परिचय कराने वाले हैं, ये माधुर्यमें धुर्य हैं, मधुर वचन बोलनेमें बड़े चतुर हैं और ये जितने भी वक्ताओंके मार्ग हैं उनसे अग्रणी हैं अर्थात् शब्द-ब्रह्मका समुचित उपयोग करने वाले हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी बड़े विद्वान साधु हुआ करते हैं।

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम्।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥६६१॥

श्रुताभ्यासकी उपाध्यायत्वमें कारणता—उपाध्याय परमेष्ठी उपाध्याय हैं, बहुत विद्वान हैं। उनके उपाध्यायपनेका कारण है श्रुतका अभ्यास, सिद्धान्तशास्त्रोंका इतना प्रचुर अभ्यास है कि जिसके कारण उन्हें इतनी विद्वत्ता प्राप्त हुई है कि वे दूसरोंको भली-भाँति निर्दोष पाठन करनेमें समर्थ हैं। उपाध्याय परमेष्ठी स्वयं भी अध्ययन करते हैं और शिष्योंको भी अध्ययन कराते हैं। भले ही ये समस्त शास्त्रोंके पारगामी हो गए, फिर भी अभ्यास न रखें तो उनकी विद्वत्तामें कमी आ जायगी। अतः वे निरंतर अपना अभ्यास बनाये रहते हैं और शिष्यजनोंको भी पढ़ाते हैं। इस तरह जो शिष्योंको भी पढ़ायें व स्वयं भी विद्याका अधिकाधिक अभ्यास रखें और आचार्य परमेष्ठी द्वारा घोषित कर दिए गए हों उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याधर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत्क्वचित् ।।६६२।।

उपाध्याय परमेष्ठीको धर्मोपदेशका विशेषाधिकार—उपाध्याय परमेष्ठीमें व्रत आदिक की सर्वसाधारण विधि वही है जो साधुवोंकी बतायी गई है। मूल गुणोंका होना, तपश्चरण करना, संयम शीलका धारण करना, रागद्वेषसे रहित होकर समताभावमें रहना आदिक जितने भी गुण कहे गए हैं साधुवोंके वे सभी गुण उपाध्याय परमेष्ठीमें होते हैं। विशेषता इतनी है कि वे धर्मोपदेशको किया करते हैं, किन्तु आचार्य महाराज जैसा आदेश दिया करते हैं उस तरहका आदेश उपाध्याय परमेष्ठी नहीं देते हैं। इनका कार्य तो धर्मोपदेश करना है, जिसे सुनकर वे मुनिजन सम्यक्त्व प्राप्त करें और अपने अध्यात्ममार्गमें अपनी गति बनायें। एतदर्थ उनका उपदेश होता है, पर किसी तरहकी आज्ञा वे नहीं देते हैं। आज्ञा करना आचार्य परमेष्ठीका कार्य है। चूंकि आचार्य, उपाध्याय और साधु मूलतः साधु ही हैं। तो साधुवोंमें कहे गए २८ मूल गुण इन तीनों प्रकारके गुरुवोंमें हैं। केवल एक व्यावहारिक विशेषता यह है कि आचार्य महाराज तो आज्ञा प्रदान करते हैं और उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश देते हैं।

तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ।।६६३।।

उपाध्याय परमेष्ठी द्वारा अन्य साधुजनोंकी भांति शुद्ध चारित्र व पञ्चाचारका आश्रयण—ये उपाध्याय परमेष्ठी साधुवोंके संगमें रहते हुए यथाजात मुनिलिङ्गको धारण करते हुए संयम और तपका आश्रय करते हैं। संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त और रागद्वेष विषयकषाय आदिक विभावोंको जीतनेमें उद्यमी रहा करते हैं। मुक्तिमार्गमें तो ये भी लग रहे हैं। यों उपाध्याय परमेष्ठी संयम और तपका आश्रय लेते हैं, साथ ही शुद्ध चारित्र और पंचाचारोंका ये निर्दोष पालन करते हैं। ये तीनों ही गुरु मोक्षमार्गमें सावधान हैं और आत्मकल्याणका ही कार्य करते हैं, पर व्यवहारदृष्टिसे इसमें आचार्य और उपाध्याय पदकी बात कही गई है।

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥६६४॥

उपाध्याय परमेष्ठी द्वारा मूलोत्तरगुणधारण परीषहोपसर्गविजय व इन्द्रियविजयका आचरण—ये उपाध्याय महाराज मूल गुणोंमें और उत्तर गुणोंमें जैसा कि आगममें बताया गया है, इस प्रसंगमें ऊपर कहा गया है उन सबका भली-भाँति आचरण करते हैं और जैसे साधुपरमेष्ठी परीषह और उपसर्गके आनेपर समतासे उनपर विजय प्राप्त करते हैं इसी प्रकार ये उपाध्याय परमेष्ठी भी परीषह और उपसर्गके विजयी होते हैं। जब कभी परीषह और उपसर्ग आता है तो ये गुरुराज अन्तर्वृत्तिमें दृढ़ बनते हैं और ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानमग्न हों इस दिशामें उनका चलना होता है और उस अन्तः प्रयत्नके द्वारा ये परीषह और उपसर्गके विजय करने वाले होते हैं। ये उपाध्याय साधुवोंकी तरह इन्द्रिय विषय कषायोंको वश करने वाले होता हैं। जहाँ शरीरसे इन्द्रियसे इन विचारमालावोंसे विविक्त एक शुद्ध ज्ञान-स्वभावका आलम्बन है, वहाँ ये विषय कषाय सहज ही जीत लिए जाते हैं। इस तरह अन्त-र्बलके द्वारा साधुपरमेष्ठी विषयकषायोंके जोतने वाले होते हैं।

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धस्तेषअरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रही ॥६६५॥

गुरुवोंकी अन्तर्बहिःशुद्धता—इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा था कि अदेवमें देवबुद्धि करना, अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, यह मूढ़ दृष्टि है। ऐसी मूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जनोंके नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको तो देवमें ही देवबुद्धि जगती है, गुरुमें गुरुबुद्धि जगती है, तब देवका स्वरूप बताकर गुरुका स्वरूप बताया जा रहा था। ये गुरु सामान्यतया एक हैं, क्योंकि इनकी अन्तर्साधना एक समान है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे तीन भेद बन गए हैं। जो केवल शुद्धताका ही प्रयोजन रखते हैं, आत्मसाधना करना, यही जिनका लक्ष्य है, आदेश तो किसी विषयका करते ही नहीं, किन्तु उपदेशमें भी ये उपेक्षित हो रहे हैं, ऐसे साधु जन शुद्ध कह-लाते हैं। साधु होकर जो उपदेशकी प्रधानता रखते हैं, स्वयं बहुत विशेष विद्यावोंके अधिपति होते हैं, स्वयं अध्ययन करते हैं और शिष्यजनोंको अध्ययन कराते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। वे सर्वसाधुवोंके जो नायक हैं, और इन साधुजनोंकी धार्मिक क्रियावोंके शासक हैं वे पुरुष आचार्य कहलाते हैं। तो इस प्रसंगमें उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप बताकर इस अंतिम श्लोकमें कह रहे हैं कि इस सम्बन्धमें अत्यन्त विस्तार करना व्यर्थ है अर्थात् विस्तार करने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उपाध्याय परमेष्ठी मुनिके समान ही अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें शुद्धस्वरूपको धारण करने वाले होते हैं। जैसे कि साधुपरमेष्ठी रत्नत्रयसे पवित्र हैं, अंतः आत्मस्वरूपकी आराधनाकी धुनमें रहते हैं इसी

प्रकार ये उपाध्याय भी अध्यात्मके साधक होते हैं। ये विशिष्ट बुद्धिमान होते हैं, क्योंकि जिन-शास्त्रोंका रहस्य और सार इन्होंने प्राप्त किया है ये निष्परिग्रह हैं। जीवके कल्याणमें बाधा करने वाला मुख्य दोष परिग्रह है। परिग्रह केवल बाह्य वस्तुओंका ही नहीं होता, किन्तु अपने विषय कषाय, विचार विकल्पको 'यह मैं हूं,' ऐसा मानना और उन विचारोंके सम्बन्धमें रागद्वेषकी वृत्ति रखना यह भी परिग्रह है और खास परिग्रह है। तो जो अन्तरङ्ग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं ऐसे ही पुरुष विद्वान होकर उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। ये नग्न दिगम्बर हैं। भीतर भी नग्न हैं और बाहर भी नग्न हैं, वसन आभूषणसे रहित हैं। यों शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है, यों तो ये बाह्यमें नग्न हैं और अन्तरंगमें विचार विकल्प विषय कषाय आदिक विभावोंसे अत्यन्त दूर हैं। केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपमें ही धुन बनाये रहते हैं, इस कारण अन्तः भी ये नग्न हैं। नग्न कहते हैं शुद्धस्वरूपको। जहाँ बाहरी कोई प्रसंग न रहा उसे नग्नता कहते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। रागद्वेषादिकपर विजय पाकर समतामें रहते हैं। ये तो समता है ही, किन्तु सर्वप्रकारके शास्त्रोंके जानकार होनेसे ये ज्ञानगुणमें भी अधिक श्रेष्ठ होते हैं।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥६६६॥

उपाध्यायका लक्षण कहकर साधुपरमेष्ठीके लक्षणके कथनका संकल्प—यहाँ तक उपाध्यायका लक्षण बताया गया है। जिसका स्वरूप अपने लक्षणसे प्रसिद्ध ही है, उपाध्यायका यह स्वरूप कहकर अब साधु परमेष्ठीका लक्षण कहा जाता है, जो कि आगमसे भली-भाँति सिद्ध है। यद्यपि साधुताकी दृष्टिसे तीनों प्रकारके मुनि समान हैं, फिर भी व्यावहारिक विशेषताके कारण चूंकि मुनियोंके नायक हैं, अतएव आचार्य परमेष्ठीको पहिले कहा है, और ज्ञानसे विशेष हैं, इस कारण साधुसे पहिले उपाध्यायको कहा है। अब साधु परमेष्ठीका स्वरूप कहा जा रहा है। साधुका शब्दसे अर्थ है—जो आत्माके स्वरूपको साधे सो साधु है। यद्यपि आत्मस्वरूपकी साधना वाले तीन प्रकारके गुरु हैं, फिर भी एक आत्मसाधनाका ही काम साधुपरमेष्ठीका है, इस कारण साधु शब्दसे साधुपरमेष्ठीको कहा गया है और इससे अधिक विशेषताओंके कारण उपाध्याय और आचार्यको कहा गया है। आचार्य—उपाध्याय और साधु दोनोंके नायक हैं। इस कारणसे उपाध्यायसे प्रथम आचार्य परमेष्ठीका वर्णन किया गया था। अब उपाध्यायका वर्णन कुछ कर चुकनेके बाद साधुपरमेष्ठीका लक्षण कहा जा रहा है।

मार्गो मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्तिपुरस्सरम्।
साधयत्यात्मसिद्धयर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥६६७॥

आत्मसिद्धिके अर्थ चारित्रकी साधना करने वाले साधुके साधुनामकी अन्वर्थसंज्ञाका

कथन—मोक्षका मार्ग चारित्र है, तो भक्तिपूर्वक आत्मसिद्धिके लिए जो चारित्रकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। प्रथम तो मोक्षके मार्गका दर्शन होना चाहिए कि यह है मोक्षका मार्ग, फिर उस मोक्षमार्गके सभी स्थलोंका ज्ञान होना चाहिए, फिर उस मोक्षके मार्गपर चलना चाहिए। मार्गपर चलने वाले पथिकोंका यही क्रम रहता है—पहिले मार्गका श्रद्धान है. ज्ञान है, फिर मार्गपर चलते हैं तो पथिक अपने इष्ट स्थानपर पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार मोक्ष के मार्गके श्रद्धान और ज्ञान रखने वाले पुरुष जब मार्गपर चलेंगे तो अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। मोक्षके मार्गका दर्शन क्या है कि आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपका दर्शन होना, अनुभव होना और उस ही स्वरूपके सम्बन्धमें विशेष परिज्ञान होना सो ज्ञान है, और जब उपयोग द्वारा ऐसे ही मोक्षमार्गस्वरूप सहज ज्ञायकस्वभावमें रमते हैं तो यह हुआ मोक्ष-मार्गपर चलना। इस तरह भक्तिपूर्वक आत्माकी लगन धुन उपासना पूर्वक जो आत्मस्वभाव का आचरण किया जाता है वह है चारित्र। ऐसे चारित्रको साधु सिद्ध करते हैं।

नोच्याच्चार्यं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥६६८॥

साधुके मन, वचन, कायके संयमका वर्णन—ये साधु पुरुष आजोवन संयमके धारण करने वाले होते हैं, ऐसे ये यमी साधु हस्त पैर आदिकके इशारेसे कुछ भी बोलते नहीं हैं। साधु परमेष्ठी भी कार्य आत्मस्वभावकी साधना करते हैं। वे आत्मस्वभावमें लगकर उसके ही दर्शन कर-करके तृप्त रहते हैं। यह उनकी एक धारा रहती है। ऐसे साधु पुरुषोंको किसी भी प्रकारका संकेत संज्ञा करनेका प्रयोजन नहीं रहता, अतएव साधु पुरुष हाथ-पैर आदिकके इशारेसे कुछ भी बात बताते नहीं हैं, व्यावहारिक लौकिक प्रवृत्ति करते नहीं हैं और वे तो स्वस्थ ही रहते हैं, अतएव जैसे वे नहीं बोलते हैं, इसी प्रकार न कुछ संकेतसे दिखाते हैं और न मनसे भी चिन्तन करते हैं। इस श्लोकमें साधु पुरुषकी ३ गुप्तियोंका निर्देश किया गया है। मनोगुप्तिके कारण मनको कहीं अन्यत्र नहीं लगाते, केवल एक स्वमें स्थिर रहता है। वचन-गुप्तिके कारण कोई परविषयक वचन भी नहीं बोलते और कायगुप्तिके कारण कोई हाथ-पैर आदिकका संज्ञा संकेत भी नहीं करते हैं।

आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिध्नुवानश्च परम्।
स्तिमिन्तान्तर्वहिस्तुल्यो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥६६९॥

साधुपरमेष्ठीके शुद्धात्मध्यानकी प्रधानता—ये साधु परमेष्ठी आत्माको प्राप्त करते हुए ही रहते हैं। जैसे शुद्ध आत्माका ध्यान हो, ऐसे एकाग्रचित्त होकर केवल ज्ञानमात्र अनुभूति को किया करते हैं, ऐसे उत्कृष्ट शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको ये प्राप्त करने वाले होते हैं। इनकी अंतरङ्ग प्रवृत्तियाँ और बहिरङ्ग प्रवृत्तियाँ शुद्ध हो चुकी हैं, इस कारण वे निस्तरंग समुद्रकी तरह

गम्भीर होते हैं। ये मुनिराज चित्तमें कोई विकल्प उत्पन्न नहीं करते। उनको जिस मार्गसे चलना है, जो आनन्द और तृप्तिका साधन है वह अत्यन्त स्पष्ट बना हुआ है, इस कारण उन्हें अन्य कुछ विचारना नहीं होता है। निस्तरंग समुद्रकी तरह गम्भीर रहा करते हैं, क्योंकि उपयोगको जहाँ रमाना है, वह स्थान वह निजपद उनकी दृष्टिमें स्पष्ट रहा करता है, अतः कोई आकुलता नहीं उत्पन्न होती। आकुलता उनके उत्पन्न होती है जो यह ढूँढ़ते हैं कि मुझे मन रमानेके लिए कौनसी जगह पानी चाहिए? उन्हें तो यह आत्मधाम स्पष्ट है, इस कारण उनके व्याकुलता नहीं होती।

नादेशं नोपदेशं वा, नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥६७०॥

साधुका आदेश व उपदेशके श्रमसे छुटकारा—ये साधु परमेष्ठी स्वर्ग और मोक्षके मार्ग तकका भी आदेश और उपदेश नहीं करते, फिर स्वर्ग और मोक्षमार्गके विरुद्ध अन्य लौकिक सांसारिक बातोंका तो आदेश व उपदेश करेंगे ही क्या? साधु तो केवल आत्मसाधनाके लिए निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुआ है। उसकी धुन आत्मसिद्धिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस कारण अपनी ही स्वरूपसाधनामें तृप्त रहा करता है। यद्यपि सामान्य रीतिसे कभी-कभी मोक्ष और स्वर्गका आदेश व उपदेश कर दिया करते हैं, किन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है और साधुताके नाते उनको आदेश उपदेशकी चाह भी नहीं उत्पन्न होती। ऐसे ये साधु परमेष्ठी स्वर्ग और मोक्षमार्गविषयक भी आदेश और उपदेश नहीं किया करते। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपदेश करनेका मुख्य काम तो उपाध्याय परमेष्ठीका है और आदेश करनेका मुख्य काम आचार्यपरमेष्ठीका है। आचार्यपरमेष्ठी आदेश और उपदेश दोनोंके अधिकारी हैं, उपाध्याय—आदेश देनेके अधिकारी हैं और साधु परमेष्ठी आदेश और उपदेश दोनोंकी उपेक्षा करके एक आत्मसाधनाकी धुनमें ही रहा करते हैं।

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥६७१॥

साधुपरमेष्ठीके वैराग्यकी पराकाष्ठा—ये साधु परमेष्ठी वैराग्यकी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। जहाँ पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी वाञ्छा नहीं है, कोई मानसिक चिन्ता नहीं है, जिनको संसारके किसी भी भोगके प्रति रंच मात्र भी इच्छा नहीं होती, केवल शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लिए रहें, इसके लिए ही कमर कसे हुए रहते हैं, ऐसे साधुपरमेष्ठी वैराग्यकी उत्कृष्ट काष्ठापर पहुंचे हुए हैं। यही कारण है कि उनकी आत्मप्रभा अधिकाधिक शुद्ध रहती है। ये साधुपरमेष्ठी दिगम्बर कहलाते हैं। दिशायें ही जिनकी अम्बर हैं, दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं, ऐसे दिगम्बर भेषमें रहने वाले साधु उत्कृष्ट दयाकी मूर्ति सिद्ध होते हैं। किसीसे द्वेष

नहीं, तब शास्त्र आदिक लेनेकी उन्हें क्या जरूरत ? किसीसे राग नहीं तो कुछ भी आवश्यक वैभव रखनेकी क्या जरूरत ? गात्रमात्र ही जिनका परिग्रह रह गया, ऐसे ये साधुपरमेष्ठी होते हैं। इनका रूप होता है यथाजात। जैसे बालक जो कि जल्दी ही उत्पन्न हुआ तो न उसके शरीरमें वस्त्र हैं, न आभूषण, ऐसे ही ये साधुपरमेष्ठी भी वस्त्राभूषणसे रहित होते हैं। बच्चे निर्विकल्प होते हैं। (यह एक सामान्य लौकिकदृष्टिका कथन किया जा रहा है।) जैसे छोटे बच्चे निर्विकल्प होते हैं, विकार तो उनमें तब आते-जाते हैं जब कुछ बड़े होते जाते हैं। तो जैसी सरलता एवं निर्विकारता बच्चोंमें पायी जाती है, ऐसी ही और इससे भी उत्कृष्ट इन साधुजनोंमें पायी जाती है। ये साधु यथाजात रूपके धारी होते हैं। ये साधु परमेष्ठी दयामें लीन रहा करते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय आदिक छहों कायके जीवोंकी रक्षामें ये साधु लीन रहा करते हैं। यही कारण है कि वे न कभी आरम्भ करते हैं और न कभी कुछ परिग्रह अपने साथ रखा करते हैं।

निर्ग्रन्थोन्तर्वहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥६७२॥

साधुकी निर्ग्रन्थता, कर्मनिर्जरकता व तपस्विता—ये साधु गुरु निर्ग्रन्थ हैं, अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग शल्य मोहरूपी गाँठके ये खोलने वाले हैं। जहाँ परका यथार्थ परिज्ञान हुआ है, यह ज्ञानमात्र मैं हूं, इसका उत्पादव्यय इस ही में है। इसका किसी भी अन्य द्रव्यके साथ रंचमात्र सम्बंध नहीं है, इस तरह समस्त परसे निराले निज ज्ञानमात्रको जिसने समझा है वह पुरुष मोहकी गाँठ खोलने वाला कहा गया है। ऐसा पुरुष यमी होता है अर्थात् आजीवन उनके संयमका धारण रहता है। ये तपस्वी श्रेणी द्वारा उत्कृष्ट कर्मोंकी निर्जरा करते हैं, श्रेणी में आरूढ़ होकर जैसे-जैसे उत्कृष्ट परिणाम होते हैं ऊँचे-ऊँचे गुणस्थानोंमें पहुंचते हैं। ऐसे ही कर्मोंकी विशेष निर्जरा हो जाती है। इनका तपश्चरण ही किरण है, जिस किरणके द्वारा कर्मईंधनको जला देते हैं, वह किरण तपश्चरण ही है। निश्चयनय तपश्चरण है। अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर उस ही ज्ञानस्वरूपमें मग्न रहना, इसमें इतना परम-प्रताप प्रकट होता है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें दूर हो जाते हैं और इस ही अन्तरङ्ग तपश्चरणकी साधनाके लिए अनशन आदिक बाह्य तपश्चरण भी किया करते हैं।

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्यतः।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥६७३॥

साधु परमेष्ठीकी एषणाशुद्धि, प्रत्याख्यानपरायणता व अजेयता—ये साधु परमेष्ठी परीषह और उपसर्ग आदिकसे अजेय हैं। इनपर कोई तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा क्रूर देव उपसर्ग करे अथवा क्षुधा, तृषा, रोग आदिककी कठिनसे कठिन वेदनायें हो जायें, किसी पुरुषके द्वारा

सताये जायें, इतनेपर भी वे अपने स्वरूपसे चिगते नहीं हैं, इस कारण वे परीषहोंसे अजेय हैं। परीषह कैसे ही आयें, पर उन्हें विचलित नहीं कर सकते। कोई प्रकारका उपसर्ग भी उन्हें विचलित नहीं कर सकता। ये साधु परमेष्ठी कामके विजयी होते हैं, काम सम्बन्धी विकार इनमें रंच नहीं रहता है। जिन्होंने सर्वलोकके तीनकाल सम्बंधी सुखोंसे बढ़कर अनुपम आत्मीय आनन्दका अनुभव किया है वे पुरुष कामविकारमें क्या चित्त लगायेंगे ? तो ये काम के विजयी होते हैं। इनकी आहारविधि एषणासमितिपूर्वक होती है। क्षुधाकी वेदना होनेपर दिनमें योग्य समयपर भिक्षाचर्याके लिए निकलते हैं। किसी दातारने सम्मानपूर्वक पड़गाहा तो वहाँ जाकर अन्तराय टालकर आहार ले आते है, वहाँ वे शुद्ध भोजन ही लेते हैं, इस कारण उनकी एषणा शुद्ध पवित्र है। ये साधु पुरुष कभी किसी व्रतमें अतिचार आनेपर प्रत्याख्यानावरण स्वीकार करते हैं, आलोचना, प्रायश्चित आदिक द्वारा आये हुए विकारोंकी शुद्धि करके फिर अपने ज्ञानमार्गमें लीन हो जाते हैं।

इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥६७४॥

उत्तमगुणाधार साधुपरमेष्ठीकी नमस्यता--इस प्रकार साधुपरमेष्ठी अनेक तरहके उत्तम गुणोंके धारी होते हैं, उत्तम-उत्तम गुणोंका इन साधुपरमेष्ठीने आश्रय लिया है, अर्थात् साधुवों में दोष कुछ भी नहीं रहते, गुणोंके ही ये निधान रहते हैं। ऐसे ये साधु परमेष्ठी कल्याण-प्राप्तिके लिए नमस्कारके योग्य हैं। संसारमें यदि कोई शरण हो सकता है मनुष्योंमें तो ये गुरुजन ही शरण होते हैं, क्योंकि इन्हें कोई विषयकषाय नहीं लगे हैं, इस कारण स्वयं भी शुद्ध मार्गपर चलते हैं और दूसरोंको भी शुद्धमार्गका ही आदेश उपदेश किया करते हैं, अतएव बड़े-बड़े व्रती पुरुषों द्वारा भी ये साधु पुरुष वन्दनीय होते हैं, अन्य कोई पुरुष वन्दनीय नहीं होते।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥६७५॥

मुनित्रयकी समानता व परस्पर विशेषताका संकेत--यहाँ तक मुनिगणका वर्णन किया गया। आचार्य, उपाध्याय और साधु ये ३ प्रकारके मुनिराज, गुरुराज समस्त महान पुरुषोंमें श्रेष्ठ गिने गए हैं और ये तीनों अन्तरङ्ग विशुद्धिके नातेसे एक समान हैं, फिर भी इनमें कुछ बाहरी विशेषतायें हैं, जिनसे कुछ तार्तम्य माना जाता है। वे बाहरी विशेषतायें क्या हैं, इस सम्बंधमें पहिले वर्णन आ चुका है कि आचार्य आदेश और उपदेश दोनोंके अधिकारी हैं, उपाध्याय मात्र उपदेशके अधिकारी हैं और साधु केवल आत्मसाधनाके लिए ही प्रयत्नशील रहा करते हैं। अन्तरङ्गमें उद्देश्य तीनोंका मोक्षमार्गमें लगनेका है। तीनों ही कर्मोंकी निर्जरा

करने वाले विशुद्ध कैवल्यको प्रकट करते हैं। तो इस मूल उद्देश्यकी अपेक्षा तीनोंमें समानता है, फिर भी विशेष कार्योंकी दृष्टिसे इन तीनोंमें परस्पर विशेषता है। जिस विशेषताका पहिले वर्णन किया गया, फिर भी कुछ उनकी विशेषताएँ बतायी जा रही हैं।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥६७६॥

आचार्यपरमेष्ठीकी दीक्षादेशके कारण गणाग्रण्यता व स्वात्मतत्परता—आचार्य महाराज दीक्षा देते हैं, आदेश करते हैं, अतएव समस्त गणके ये स्वामी कहे जाते हैं। सर्व साधु पुरुष और उपाध्याय मुनि भी आचार्यदेवके हुक्मको सर्वोपरि मानते हैं। जो उनका आदेश हो उसे निष्कपट होकर, कोई शङ्का न करके उसको मस्तकपर चढ़ाते हैं, क्योंकि आत्मकल्याणके अर्थी ही ये साधु पुरुष होते हैं और यह श्रद्धा है उनकी कि हमारे गुरु आचार्य जो भी उपदेश करेंगे वह हमारे हितकी साधनाका ही उपदेश करेंगे। इस कारण सर्व साधु पुरुष आचार्यके आदेशको पूर्णरूपेण पालन करते हैं। वे आचार्यदेव दीक्षा देने तथा आदेश देने आदिका कार्य करते हैं, साथ ही वे अपने आत्मामें तल्लीन भी रहते हैं। यह बात भी प्रसिद्ध है। आचार्य परमेष्ठीमें इतनी क्षमता है। बाहरमें अनेक साधुवोंको धर्ममार्गमें सम्हाले रहते हैं, साथ ही अपने आपके आत्माकी सावधानीमें भी वे निरन्तर तत्पर रहते हैं। ऐसी एक बड़ी विशेषता है। तब वे कितने विशिष्ट पुरुष हैं जो कि सर्व साधुजनोंके नायक हो पाते हैं अन्यथा स्वात्मदृष्टिवश न हों तो क्या तो उनमें आचार्यपना हो सकेगा और क्या साधुवोंको आदेश ही दे सकेंगे।

अर्थान्नातत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥६७७॥

दर्शनमोहका अनुदय होनेसे आचार्यके शुद्धात्मानुभवकी स्फुटता—आचार्य परमेष्ठीके दर्शनमोहका अनुदय हो, उपशम हो, क्षय हो अथवा क्षयोपशम हो। प्रयोजन यह है कि दर्शन मोहनीय कर्मका उदय नहीं चलता, इस कारण वे इस आत्मामें तल्लीन रहते हैं। साधु पुरुष की इतनी धार्मिक क्रियाओंका विधान करके भी ये आचार्य परमेष्ठी अपने आत्मामें तल्लीन रहते हैं, इस विषयमें शङ्का न करना चाहिए, क्योंकि शुद्ध आत्माका अनुभव दर्शनमोहनीयके अनुदयके साथ लगा हुआ है। भले ही संज्वलन कषायका वहाँ योग्य उदय पाया जा रहा है जिससे अपने संगमें रहने वाले अनेक मुनिजनोंका धार्मिक पोषण करते रहते हैं, फिर भी दर्शनमोहका अनुदय होनेके कारण वे शुद्ध आत्माके अनुभवसे दूर नहीं रहते हैं। इसी कारण आचार्य महाराज शुद्ध आत्माका अनुभव भी निरन्तर किया करते हैं। अब जरा आचार्य परमेष्ठीकी पात्रतापर ध्यान दें तो यह विदित होगा कि इस शुद्ध आत्मामें कितना अतुल प्रताप

है कि वे अपने आपके स्वरूपकी सावधानी नहीं खोते हैं और कितनी उनकी परमकरुणा है कि अनेक साधुवोंको मोक्षमार्गमें जैसे वे सावधान रहें, वैसा आदेश और उपदेश भी करते हैं। लोकमें प्रायः देखा जाता है कि जो किसी परपदार्थकी ओर अपना उपयोग लगाये वह अपने आपकी ओरसे चिग जाता है। इसी कारण साधारण जनोंके लिए यह उपदेश किया गया है कि किसी परपदार्थका उपयोग न करें, केवल स्वका ही उपयोग करें, किन्तु ये आचार्य महाराज स्वमें इतने सावधान हैं कि दूसरे अनेक मुनिराजोंको धर्मके मार्गमें सावधान रखते हुए भी अपने आत्माके शुद्ध अनुभवसे चिगते नहीं हैं। ऐसी आचार्यपरमेष्ठीमें विशेषता अन्य साधु जनोंकी अपेक्षा पायी जाती है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥६७८॥

मात्र बाह्यार्थसे चारित्रकी क्षति व अक्षतिका अभाव—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि आचार्य परमेष्ठी साधुवोंके साधक होते हैं और समस्त मुनियोंके मुखिया होनेके कारण आचार्य महाराज साधुवोंको प्रायश्चित देते हैं, आदेश करते हैं। इतने सब कार्य करनेपर भी आचार्य महाराजका आत्मा इतना प्रबल होता है कि उनके इन व्यवहार कामोंके होनेपर भी आत्माके ध्यानमें बाधा नहीं आती। यदि आत्माके ध्यानमें बाधा आये, फिर मुनियोंकी धार्मिक क्रियावोंका वे पालन करायें तो भी उनका मोक्षमार्ग न रहेगा। मोक्षमार्ग होता है रागद्वेष मोहके न होनेसे। तो यह अंतरङ्गकी बात आचार्य महाराजमें बराबर बनी रहती है। इस कारण उनका मोक्षमार्ग भी चलता है और अनेक साधुवोंको मोक्षमार्गमें लगाये रहते हैं। तो क्यों नहीं आत्माकी सुध वे भूलते हैं? जब कि मुनियोंके अनेक कार्य करा रहे हैं तो फिर उन्हें आत्माकी सुध न रहना चाहिए। पर उनके सुध रहती है, इसका कारण यह है कि शुद्ध आत्माके अनुभवका कारण दर्शनमोहका अनुदय है। अष्टकर्मोंमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। मोहनीयकर्म जब हट जाता है तो शेष कर्मोंको नष्ट होना ही पड़ता है। बाकी ७ कर्मोंकी जड़ इस मोहनीय कर्मने सींच रखा है। मोहनीय कर्म २ प्रकारके होते हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयका उदय रहे तो आत्माकी सुध नहीं रहती, मिथ्यात्व रहता है, मोह बसता है। दर्शनमोहका तो क्षय रहे नहीं, उपशम हो, क्षयोपशम हो और क्षायिक हो और चारित्रमोह बना रहे तो चारित्रमोह सम्यग्दर्शनको नष्ट नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शनका नाश करनेमें समर्थ दर्शनमोह है। तो आचार्य महाराजके दर्शनमोहका तो अनुदय है। एकदेशचारित्रका भी क्षय हो गया है। चारित्रमोहकी २१ प्रकृतियाँ हैं। उन २१ प्रकृतियोंमें जो अत्यन्त अशुभ हैं, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण ये ८ प्रकृतियाँ शान्त हो गयी हैं, इस कारण उनके आत्मामें बाधा नहीं आती। भले ही चारित्रमोहके उदय

में शुभ राग हो रहा है, मुनियोंके चारित्रका पालन करा रहे हैं, इतनेपर भी उनके आत्मामें बाधा नहीं आती है। चारित्रमोहके क्षय होनेमें या उदय होनेमें बाह्यपदार्थ कारण नहीं है। केवल बाह्य पदार्थसे ही चारित्रमोहका क्षय हो जाय या उदय हो जाय सो बात नहीं, किन्तु क्या है ? इस बातको अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥६७९॥

उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व अक्षतिका निर्णय—उन मुनिराजोंके आत्मामें जैसी ताकत है, जैसी योग्यता है उसके अनुसार बात बनेगी। यदि उपादान प्रबल है तो वहाँ चारित्रका लाभ है, रागद्वेषका अभाव है। उपादान यदि कमजोर है तो वहाँ चारित्रका लाभ नहीं रहता और रागद्वेष आदिक भी उत्पन्न होते हैं। तो चारित्रका नाश होनेमें बाहरी पदार्थ कारण नहीं है। जैसे कोई मुनिराज आज ही या कभी भी दीक्षित हुआ हो तो इसके सामने स्त्री पुत्रादिक परिजन भी आ जायें तो उनमें उसका राग न जगेगा। हाँ यदि उस मुनिका ही आत्मा अज्ञानी बन जाय तो राग आयगा। तो बाहरी पदार्थ होनेसे कहीं रागादिक नहीं आ जाते। इसी तरह बाहरी पदार्थ कहीं रागादिक मिटा नहीं देते। भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगे तो रागादिक दूर होंगे। तो आचार्य परमेष्ठी बाहरमें साधुवोंको आदेश देते हैं, पंचाचारोंका आचरण कराते हैं। इससे कहीं उनके रागादिक न हो जायेंगे, कहीं आत्माकी सुध वहाँ न समाप्त हो जायगी। वे अपने आत्माके ध्यानमें तत्पर रहा करते हैं। इस आत्माका यदि कोई बैरी है तो मोह रागद्वेषका सद्भाव ही बैरी है। जीव सब स्वतंत्र हैं, सबकी सत्ता न्यारी-न्यारी है। कोई जीव किसीका न साधक है, न बाधक। अज्ञानमें यह मान रखा है कि ये लोग मेरे मित्र हैं, ये लोग मेरे विरोधी हैं। वस्तुतः इस जीवका न कोई मित्र बन सकता, न कोई शत्रु। इसका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने उपादानके अनुसार अपनी परिणतियाँ करता है। हाँ, उन परिणतियोंमें जो विषम परिणतियाँ हैं उनमें बाह्य पदार्थ निमित्त हो जाते हैं, परन्तु परिणति होगी अपने उपादानके अनुसार। तभी हो कहते हैं लोग कि कोई ज्ञानी पंडित हो और वह शत्रु हो तो भी भला है और कोई मित्र हो, पर मूर्ख हो तो भी वह भला नहीं है। कारण क्या बताया है कि जो ज्ञानी पुरुष है वह शत्रुताकी भी कुछ बात करेगा तो भी अहित हो जाय, ऐसी बात न कर सकेगा। कषायके उदयमें भले ही थोड़ा क्रोधरूप प्रवृत्ति हो जाय, मगर उसका अहित न करेगा, और जो मूर्ख पुरुष है वह चाहे दूसरेका हित सोचता हो, लेकिन अपनी मूर्खताके कारण उसकी कोई ऐसी प्रवृत्ति बनेगी कि उस दूसरेका अहित ही हो जायगा। तो अपने-अपने उपादानके अनुसार अपना-अपना भविष्य बनता है। तब यदि शान्ति चाहिए, अपने आपको आनन्द चाहिए तो अपने आत्माको विशुद्ध

बनानेका प्रयत्न करें।

परविविक्तत्वध्यानकी विशुद्धिहेतुता— विशुद्धिमें सबसे पहिला प्रयत्न यह होना चाहिए कि यह जान जायें कि मैं आत्मा जगतके सर्व पदार्थोंसे निराला हूं, केवल ज्ञायकस्वरूप हूं। मेरा मेरेपर ही सब कुछ निर्भर है, दूसरे जीवपर मेरा कुछ वश नहीं चलता, दूसरेका मेरेपर कुछ वश नहीं चल सकता। यहाँके ये प्रसंग सब झूठ हैं, मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं। मिल गए परिजनोंमें कुछ लोग तो क्या है? अपने-अपने उदयके अनुसार अपना-अपना फल भोग रहे हैं, अपने ही उदयानुसार जन्ममरण कर रहे हैं। कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे। थोड़े दिनोंको ये मिल गए तो इतनेमें मेरा क्या आयगा उनसे? मैं उनसे भी निराला हूं, और तो क्या कहें—खुदमें जो भाव उत्पन्न होते हैं कषायोंके इच्छावोंके, विषयोंके, किसी भी प्रकार के विचार तक भी मेरे साथी नहीं बन पाते, उन्हें भी नष्ट होना पड़ता। मैं तो सदाकाल ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने आत्माका बोध हो तो यही सच्ची मित्रता है। खुद ही मित्र बन सकते हैं। खुद ही आत्मा अपना गुरु हो सकता है और खुद ही यह आत्मा अपने आपको उत्तम कार्यमें लगा सकता है, ऐसा जानकर सर्व बाह्यपदार्थोंसे उपेक्षा करना और इन्द्रियको संयत करके अपने आपमें अपने आत्माके स्वरूपको लखना, यही है अपने साथ सच्ची मित्रता। तो आचार्य महाराजके दर्शनमोहका अनुदय है, इस कारण मोहभाव उत्पन्न हो इसकी तो गुंजाइश ही नहीं है, किन्तु चारित्रमोह भी बहुत कुछ सम्भव हो गया है। इस कारणसे ऐसा रागद्वेष भी नहीं होता कि जो आत्माके अनुभवमें बाधा डाले, इस कारणसे ये आचार्य महाराज साधुवोंको इतनी धार्मिक क्रियायें करते हुए भी अपने आत्मामें सावधान रहते हैं। इस प्रकरणसे हम आपको भी यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हम आपकी भी वृत्ति अपने आपके ध्यानकी रहा करे, जिससे कि बाहरी व्यापार, लेन-देन व्यवहार आदिक कार्य करते हुए भी भान रहे अपने आत्माका कि इन बाहरी सम्पदाओं मात्रसे मेरा कुछ पूरा नहीं पड़नेका, इन बाहरी मित्रमंडलियोंसे भी मेरा कुछ काम नहीं बननेका। मेरा काम बनेगा तो मेरे ही पवित्र परिणामसे बनेगा।

सति संज्वलने ,नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥६८०॥

अनन्तानुबन्धी कषायके विपाकमें इष्टसम्बंधित पीड़ा—कषायें मुख्य १६ प्रकारकी होती हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिनके उदयमें मोह उत्पन्न होता है और आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि नहीं जगती है, इनका उदय मिथ्यादृष्टिमें पाया जाता है। अनन्तकाल तक भी इनकी परम्परा बनी रहे या मिथ्यात्वको ये बढ़ाते रहें, अगले भवमें भी बैर विरोधको न छोड़ें, इस प्रकारकी वासना अनन्तानुबंधी कषायमें रहती है। इसके उदयमें

जीवकी बुरी तरह बरबादी होती है। अब यहीं देखिये कि इस जीवका दूसरा कोई साथी नहीं है। जगतमें जितने अनन्त जीव हैं वे सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा अपने आपमें विचार करें। तो घरमें आये हुए दो एक लोग अथवा १०-५ जो परिजन हैं, उनमेंसे एक भी जीव तो अपने आपका कुछ नहीं लगता, बल्कि वे अपने आपके रागके कारण बन रहे हैं। इस कारण यों कहो कि कुछ बैर ही तो निभा रहे हैं। मगर आपका कोई काम नहीं साध रहे। देखो परिवारमें कोई बड़ा भला हो, प्रिय हो, दूसरोंकी सेवा करता हो, सबका बहुत प्यारा हो, लेकिन उसका वियोग (विछोह) तो होगा ही। जब उस इष्टका वियोग होता है तब उसके पश्चात् फिर उसको जीवनभर बड़ी वेदना रहती है। हायका इतना प्रिय था, इतना चतुर था और वह गुजर गया। अब इष्ट पदार्थका मिलना इस जीवके लिए भला हुआ या बुरा? इष्ट-समागम होना भी बुरा है और अनिष्ट समागम भी बुरा है। बाहरी पदार्थोंमें स्नेह करना नियमसे बुरा है। उससे इस जीवको कोई भलाई नहीं मिलती है। तो अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें जीवको अपने स्वरूपका भान नहीं रहता। तो यह बहुत अनर्थ करने वाली कषाय है। प्रकृतिपर क्या दृष्टि दें, अपने भावपर दृष्टि देना चाहिये। यदि वैभवमें आसक्ति है, तीव्र राग है तो हम बड़ा पाप कर रहे हैं। उसमें हमको बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। संसारमें जन्म मरण खोटी-खोटी गतियोंमें करना पड़ेगा। नरक आदिक कुयोनियोंमें में जन्म होगा तो देखो इष्ट जन उसके लिए बुरा ही रहा। यदि बाह्य पदार्थोंमें राग अधिक है, मोह बना हुआ है तो इस मोहके कारण ही तो अब तक संसारमें रुलते आये हैं। मान लो आज मनुष्य हुए हैं और मनुष्य होकर भी यही काम करते रहे जो कि अनेक भवोंमें करते आये। जो लोग मिले परिवारमें उनमें राग बढ़ाना, मोह करना, उनको ही अपना सर्वस्व समझना, उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन अर्पित करना जो कुछ हैं सो ये ही हैं, ऐसा उनमें अपना सर्वस्व समझ लेना, यह तो महापाप है, आत्माकी बरबादीका कारण है। इससे कुछ भलाई नहीं होनेकी। और ऐसा करते-करते मान लो जीवन खतम हो गया तो फिर क्या लाभ पाया? अगला जन्म लेना होगा। कहाँ जन्म लेगा? कोई खोटी योनि ही मिलेगी, इससे फायदा क्या? तो इष्ट पदार्थोंको पाकर हर्ष न करना चाहिए। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि ये भी नष्ट हो जाने वाले हैं।

अनन्तानुबन्धी कषायके विपाकमें अनिष्टसम्बंधित पीड़ा—अब अनिष्ट समागमकी बात देखिये—किसी अनिष्ट पदार्थका समागम हुआ है, मानो निन्दक लोग मिले हैं अथवा विषयोंमें बाधा डालने वाले लोग मिले हैं तो ऐसे बाधक लोग अनिष्ट पुरुष मिल जायें तो उनसे भी मेरे आत्माका नुक्सान क्या होता है? उनके कषाय है, परिणाम है, वे अपने परिणाममें अपना कषायभाव रख रहे हैं। रखते रहें, उनका काम उनके परिणामसे होगा। उनसे मेरेमें क्या

बात आयी ? मानो किसीको गाली देनेकी आदत है, गाली दे रहा है तो वह कर क्या रहा है ? अरे उसकी इतनी ही योग्यता है कि वह गाली ही बक सकता है । तो वह अपना काम कर रहा है, मेरेमें उसकी गाली नहीं आती, न उससे मेरेमें कोई बंध होता है । यहाँ तो अपने अज्ञानसे कर्मका बन्ध होता है । न रखे अज्ञान, मान लो भली प्रकारसे वह सब कुछ करे, पर उससे मेरेमें कुछ आता-जाता तो नहीं । यदि अपनी एक ऐसी ही दृढ़ता बना लें तो उससे कुछ नुक्सान तो नहीं है । अनिष्ट समागम मिले तो उसमें भी विषाद न करें, ज्ञातादृष्टा रहें, यह भी एक सम्यग्दृष्टिकी चीज है । तो जिसके इस प्रकारकी आत्मामें सावधानी रहती है उस पुरुषको कोई वेदना नहीं है । और जिसके अज्ञान बसा है उसके चाहे कितने ही भोगके साधन मिले हों, लेकिन वह संक्लेशमें रहता है और दुःखी रहता है । तो अनन्तानुबंधी कषायमें उदय में जीवको आत्माका भान नहीं रहता ।

सर्वघाती कषायका अभाव होनेसे मुनिकुञ्जरोंकी आत्मसावधानी—अब समझिये अप्रत्याख्यानावरण कषायकी बात । अनन्तानुबंधी कषाय तो रहे नहीं और अप्रत्याख्यानावरण हो तो उसके सम्यक्त्व तो है, मगर ११ प्रतिमा लेनेका भाव नहीं होता है और प्रतिमावोंका न वह पालन करता है । अनन्तानुबंधी न होनेसे सम्यग्दर्शन तो जग रहा है पर अप्रत्याख्यानावरण कषायके होनेसे प्रतिमाका भाव नहीं जग रहा, सो उसके कोई व्रत नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरण कषाय दूर हो तो ११ प्रतिमाके धारणके भाव होते हैं । मुनिव्रतका तो धारण कर ही न सकेगा, जिसके अप्रत्याख्यानावरणका उदय है, वह एक देशव्रत भी नहीं कर सकता, और जिसके अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण नहीं, मगर प्रत्याख्यानावरण है वह मुनिव्रत तो धारण नहीं कर सकता, किन्तु श्रावकव्रत ले लेगा । तो इतनी कठिन कषायें मुनि के नहीं रहीं, इस कारण वे आत्मामें निरन्तर सावधान रहते हैं ।

लोक और कालके विस्तारके परिचयमें वैराग्यका सुगम अभ्युदय—इस प्रसङ्गमें एक बात शिक्षाके लिए और जाननी चाहिए कि साधुजनोंके संस्थानविचय नामका धर्मध्यान पुष्ट रहता है याने लोक कितना बड़ा है और काल कितना लम्बा है, यह ज्ञान उनके चित्तमें साक्षात् बना रहता है, जिसके फलसे उनके राग नहीं जगता । लोक कितना बड़ा है ? पहिले तो आजकलकी परिचित दुनियाको ही देख लीजिये । रूस, अमेरिका आदिक दूर-दूरकी जगह कितनी लम्बी-चौड़ी है, और यह सब जगह इस एक भरतक्षेत्रके, आर्यक्षेत्रके एक कोनेमें समायी हुई है । इससे कितना ही बड़ा अभी आर्यखण्ड है और इनके सिवाय ५ म्लेच्छ खण्ड हैं, इतना तो एक भरतक्षेत्र है । यह जम्बूद्वीपका एक छोटा क्षेत्र है । जम्बूद्वीप बहुत बड़ा है, उससे दूना लवण समुद्र है, उससे दूना दूसरा द्वीप है, उससे दूना दूसरा समुद्र है, उससे दूना तीसरा द्वीप है । इस तरह दूने-दूने द्वीप समुद्र हो गए और वे हैं अनगिनते द्वीप समुद्र । इतने द्वीपसमुद्र जितने जगहमें समाये हैं, वह अभी एक राजू भी पूरा नहीं है । फिर ऐसे एक राजू

लम्बे, एक राजू चौड़े और एक राजू मोटे क्षेत्रका नाम है एक घनराजू । ऐसे ३४३ घनराजू-प्रमाण यह लोक है । इतने बड़े लोकमें हम आपको जितनी जगहमें आज परिचय बना हुआ है वह तो अत्यन्त अल्प जगह है । इतनीसी जगहमें क्या मोह रखना ? अगर हमारे निन्दक बढ़ गए हैं या हमारे बाधक बढ़ गए हैं तो बढ़ जायें, उससे हमारी क्या हानि अथवा इतनीसी जगहमें कोई राग बढ़ानेके कारण मिल गए हैं, परिजन अच्छे मिल गए हैं तो इससे पूरा क्या पड़नेका ? इन्हें तो छोड़कर जाना ही होगा, और इतने बड़े लोकमें न जाने कहाँ उत्पन्न हो जायें ? तो जिसको लोकके विस्तारों खबर है उसके रागद्वेष मोह आदिक नहीं जगते । इसी प्रकार कालकी भी बात समझिये । काल कितना बड़ा है ? कोई बता सकता है क्या कि किस समयसे काल शुरू हुआ है ? जिस दिन पहिली बार सूर्यका उदय हुआ हो, उससे पहिले सूर्य ही न हो, ऐसा कोई समय बता सकता है क्या ? अनन्तकाल व्यतीत हो गया और आगे भी अनन्तकाल व्यतीत होगा । इतने लम्बे कालके सामने अगर जीवनका १००-५० वर्षकी उम्र भी पा लिया तो वह भी क्या उम्र है ? इतनासा जीवनकाल तो शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है । इसके बाद फिर जन्म-मरण चलेगा । तो वर्तमानमें पाये हुए समागममें हर्ष मत मानो और उसमें विषाद भी मत मानो । उसके ज्ञातादृष्टा रहो । ये मिले, ठीक, जान लिया, अनिष्ट समागम मिले—ठीक, जान लिया । इससे अपने आत्मामें रागद्वेष न बढ़ाना चाहिए ।

आचार्य परमेष्ठीके आत्मभावनामें बाधाका अभाव—अब देखो आचार्यपरमेष्ठीके जब चारित्रमोहके कठिन कर्म भी नहीं रहे तो उनके आत्माको साधारण संज्वलनकषाय बाधा दे दे, इतना भी नहीं होता । हाँ संज्वलनकषाय उनके मौजूद है, वहाँ सर्वघाती स्पर्धक नहीं हैं, सो आत्माके चारित्रका पूर्णतया घात कर दे, ऐसा कर्म उनका न रहा, देशघाती कर्म रहे, जिनके उदयमें थोड़ा राग चलता है शुभराग । जैसे साधुजनोंके प्रति लोग यह ख्याल रखते हैं कि उनका आचरण विशुद्ध बने, इनकी दृष्टि निर्मल हो, और साधुवोंका ही क्या, सभी जीवोंके प्रति गुरुवोंकी हित-कामना रहती है । सब लोग हित पायें, आत्मदृष्टि प्राप्त करें, सबके चित्त में ऐसी हितभावना रहती है । तो ऐसा हित चाहने वाले आचार्य परमेष्ठीके आत्माका भान न रहे, ऐसा उदय नहीं आता । तो संज्वलनकषायमें थोड़ासा दोष है, वह यही है कि प्रकृतियोंका उदय रहता है । सो उस संज्वलनका जितना तीव्र उदय आता है तब इस चारित्रमें उतनी कमी आती है और जब इसका मंद उदय आता है तब चारित्रमें कोई कमी नहीं आती है । सो मुनिराजके आचार्य परमेष्ठीके संज्वलन कषायका उदय भी तीव्र नहीं है, इस कारण इतने साधुजनोंके कार्य करते हुए भी आत्माकी बेसुधी आचार्यके नहीं रहती है ।

आत्मस्वरूपभावनाका शरणभूत कर्तव्य—इस प्रसङ्गमें अपने आपको यह जानना चाहिए कि हम अपने आत्मस्वरूपकी भावना बनाये रहें तो नियमसे संसारसे पार हो जायेंगे ।

खूब विचार कर लीजिए कि क्या आपका यहाँ साथी है कोई कुछ ? जब धन वैभव बड़े-बड़े लखपति, करोड़पति तथा अरबपतियों वगैराके भी सदा नहीं रहा, चक्रवर्तीके भी छह खण्डका वैभव सदा न रहा, तो फिर हम आपको जो कुछ थोड़ी बहुत सम्पदा मिली हुई है वह भी क्या सदा साथ रहेगी ? और इसके लिए ज्यादा क्या सोचना ? जो लोग गुजर गए हैं बड़ी-बड़ी सम्पदा पाने वाले, उनसे भी सबक सीख सकते हैं कि जब उनके साथ भी यह सम्पदा न गयी तो फिर मेरे साथ क्या जायगी ? परिजनोंका भी यही हाल है। बड़े आज्ञाकारी पुत्र हों, बड़ी विनयशील स्त्री हो तो ये भी क्या साथ जाते हैं ? मरनेपर जीवको अकेला ही जन्म लेना होता है। यहाँ कोई मेरा साथी नहीं है। ऐसी स्थितिमें हमें अपना साथी किसे मानना चाहिए ? तो भाई वास्तवमें यदि आत्माका कल्याण करना है तो पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करो। देखिये—भक्तजन यहाँ मन्दिरमें आकर पूजा रचते हैं तो क्यों रचते हैं ? इसीलिए ना कि लोकमें अन्यत्र कुछ शरण नहीं है। शरण है तो मेरे लिए पंचपरमेष्ठीकी भक्ति शरण है। क्योंकि ये संसारसे पार हो रहे हैं, पार हो चुके हैं, इनके शुद्ध आत्माका विकास हुआ है, वही विकास मुझे मिले तो मेरा उद्धार हो सकता है। तो पंचपरमेष्ठी शरण हैं और निश्चयसे आत्माको आत्माका ज्ञान, आत्माका श्रद्धान और आत्मामें ही रमण बने, यही शरण है। अपनी आत्मदृष्टिको छोड़कर जगतमें कुछ भी दूसरा शरण नहीं है, ऐसा श्रद्धान निरंतर रखना चाहिए, और बाकी कार्य करते हुए भी दृष्टि अपने आपकी ही रहनी चाहिए।

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥६८१॥

चारित्रकी क्षति व अक्षतिका कारण संक्लेशभाव व विशुद्धिभाव—चारित्रके विनाशका अथवा अनुभूतिके विनाशका कारण अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदिक नहीं हैं, किन्तु संक्लेशपरिणाम हो जाय तो उसमें चारित्रकी क्षति है। और विशुद्ध परिणाम हो तो उससे चारित्रकी क्षति नहीं होती है। इसका कारण यह है कि संज्वलनकषायकी तीव्रता हो तो आत्मामें संक्लेश हुआ करता है। और संज्वलनकषायकी मंदता हो उससे संक्लेश नहीं होता, किन्तु विशुद्धि प्रकट होती है। विशुद्धि चारित्रके विनाशका कारण नहीं है, किन्तु विशुद्धि तो चारित्रकी वृद्धिका ही कारण है। सो यह संक्लेश और विशुद्धि उस ही प्रकार कम-बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे संज्वलनकषायके उदयमें तीव्रता अथवा मंदता आती रहती है। इस तरहकी संज्वलनकषायकी तर्तमता अनेक प्रकारसे विभाजित है। सारांश यह है कि चारित्रकी क्षतिका कारण संज्वलनकषायकी तीव्रता है, मंदता नहीं है। प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरणका अनुदय होनेसे चारित्रकी क्षतिकी सम्भावना भी नहीं है।

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥६८२॥

कदाचित् संज्वलनकषायजनित चारित्रशैथिल्य होनेपर भी आचार्य परमेष्ठीके आत्म-असावधानीका अनवसर—अथवा संज्वलनकषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण कहा है और मंदता क्षति न होनेका कारण कहा है, परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती और कदाचित् संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आचार्यमें आंशिक रूपसे चारित्रकी क्षति हो जाय तो भी आचार्य अपने आत्मामें सावधान ही रहते हैं। वहाँ असावधानी नहीं बर्तती। वे आचार्यपरमेष्ठी विरक्त इतनी क्षमतापूर्ण हैं कि अपने आत्मामें वे सदा तत्पर ही रहा करते हैं। मुख्यता तो इस बातकी है कि आचार्यपरमेष्ठीके संज्वलनकषायके मंद उदयमें जो शुभ राग प्रवर्तता है उस शुभ रागके कारण साधुजनोंको पंचाचारका उपदेश आदेश करते हैं। अब इतने शुभरागसे अथवा विशुद्धिके परिणामके प्रसंगसे कहीं चारित्रका विनाश नहीं हो जाता और न वे अपने आत्मामें असावधान होते हैं।

तत्रावश्यं विशुद्धयंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥६८३॥

संज्वलनकषायज संक्लेश व विशुद्धिमें आत्मानुभूतिकी अबाधकता—संज्वलन कषायका मंद उदय होनेसे आचार्यपरमेष्ठीमें विशुद्धिके अंश प्रकट ही होते हैं, वे वृद्धिगत हो जाते हैं और जब उक्त कषायका तीव्र उदय होता है तब संक्लेशांश बढ़ जाता है। पर चाहे संज्वलन कषायमात्रके उदयमें विशुद्धिके अंश बढ़े हों अथवा चारित्रके अंश बढ़े हों, वे शुद्ध आत्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं हैं अर्थात् अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन १२ कषायोंसे रहित साधुपरमेष्ठीमें संज्वलनकषायके उदयके कारण कुछ संक्लेश भी आ जाय तो भी वह शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक नहीं है। और संक्लेश न हो, विशुद्धि हो तो वह भी शुद्ध आत्माके अनुभवमें बाधक नहीं है। जब कि अव्रती सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण जैसी कषायका उदय रहता है तिसपर भी शुद्ध आत्मानुभवमें बाधा नहीं आती। और श्रावक प्रतिमाधारी पुरुषके प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेपर भी शुद्ध आत्माके अनुभवमें बाधा नहीं होती, फिर जिन आचार्य परमेष्ठीके अप्रत्याख्यावरण भी न रहे, प्रत्याख्यानावरण नहीं है उनके शुद्धात्माके अनुभवमें बाधाको शंका कैसे की जा सकती है?

किन्तु द्वैवाद्विशुद्धयंशः संक्लेशांशोथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्धयंशं संक्लेशांशोदयः पुनः ॥६८४॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥६८५॥

संज्वलनकषायके अन्य अपराधका अभाव—यद्यपि तथ्य यहाँ यह बताया गया है कि संज्वलनकषायकी मंदतासे तो चारित्रमें विशुद्धिके अंश बढ़ जाते हैं और संज्वलनकषायकी

तीव्रतासे चारित्रमें संक्लेशके अंश बढ़ते हैं तो इतनी ही बात मान लीजिए बाधाकी। इसके अतिरिक्त कोई शुद्ध आत्मानुभवमें बाधा आ सके, ऐसी बात नहीं है। बाधा केवल इतनी ही है कि जब संज्वलनकषायका तीव्र विपाक होता है तो संक्लेश हो जाता है और संज्वलनकषाय के मंद विपाकमें विशुद्धि बनती है। पर इतने संक्लेशसे कहीं शुद्धात्मानुभवमें बाधा न आयगी। बाधा संक्लेश हो गया, इतना मात्र समझियेगा। कभी संज्वलनकषायमें आचार्यपरमेष्ठीके तीव्रता हो तो वे यद्यपि कुछ विषाद उत्पन्न करते हैं, मगर इसके अतिरिक्त और कोई अपराध नहीं कर सकते हैं याने शुद्ध आत्माके अनुभवकी अपात्रता कर दें, ऐसी शक्ति संज्वलन के तीव्र विपाकमें अथवा संज्वलनके तीव्र विपाकमें होने वाले संक्लेशमें क्षमता नहीं है। तब शंकाकारकी यह आशंका कि आचार्य महाराज शिष्योंको आदेश करें, पंचाचारका आचरण करायें, इतने व्यवहारमें रहते हैं तब उनके शुद्धात्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है? यह शंका करना निर्मूल है, किन्तु यहाँ यह समझना चाहिए कि आचार्यपरमेष्ठी इतने विरक्त पुरुष होते हैं कि वे साधुजनोंकी धार्मिक क्रियावोंको सम्हाल करके भी अपने आपकी सम्हालमें पूरा सावधान रहा करते हैं।

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्त्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥६८६॥

संज्वलनकषायज प्रमादमें स्वात्मानुभूतिकी अबाधकता—उपर्युक्त विवेचनसे यह निर्णय कर लेना चाहिए कि संज्वलनकषायकी तीव्रता अथवा संज्वलनकषायकी तीव्रतासे होने वाले कुछ अंशोंमें चारित्रकी क्षति आचार्यपरमेष्ठीके शुद्ध आत्मानुभवका विनाश नहीं कर सकती, क्योंकि शुद्धात्मानुभवके नाशका कारण संज्वलनकषायका तीव्र उदय नहीं है, अनन्तानुबंधी कषायका उदय है। जिनके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण, इन १२ प्रकारकी कषायोंका उपशम बना हुआ है, अनुदय है, ऐसे संत पुरुषोंके शुद्धात्मानुभव में बाधा करने वाली शेष कोई कषाय नहीं हो सकती है। तब यह शंका न रखनी चाहिए कि आचार्यपरमेष्ठी मुनिसंगकी धार्मिक क्रियावोंकी सम्हाल करते हैं तो वे शुद्धात्मासे वंचित रहते होंगे? यह शंका करना संगत नहीं होती।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥६८७॥

शुद्धात्मज्ञानका कारण मिथ्यात्वकर्मोपशम—शुद्ध आत्माका अनुभव किस कारणसे होता है और शुद्ध आत्माका अनुभव किस कारणसे नहीं हो सकता है? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है। शुद्धात्माके परिज्ञानका कारण मिथ्यात्वकर्मका उपशम है। यद्यपि ज्ञानावरणका अधिक क्षयोपशम होनेके कारण पुद्गल आदिक विषयक बहुत बड़ा ज्ञान कर

लिया जाता है। बड़े-बड़े आविष्कार, वैज्ञानिक साधन, ये सब ज्ञानावरणके क्षयोपशमपर निर्भर हैं। लेकिन मिथ्यात्वकर्म उपशान्त नहीं होता है तो बाहरकी बातोंका ही परिचय रहता है और वहाँ भी यथार्थस्वरूपका परिचय नहीं रहता है। आत्माका तो परिचय होता ही नहीं है, फिर उस स्थितिमें शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सकता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वकर्मका उपशम है उनके शुद्धात्माका ज्ञान रहता है और इस कारणसे रेडियो, बेतारका तार आविष्कार आदिक ऊँचे-ऊँचे साधनोंमें न उपयुक्त हो सकते हों, लेकिन मिथ्यात्वकर्मका उदय न होनेसे आत्मतत्त्व विषयक प्रकाश उनके निरन्तर रहता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वकर्मका उदय है उनके चाहे लौकिक ज्ञान कितना ही बढ़ गया हो, फिर भी शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सकता है। शुद्धात्माका अर्थ है—यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है उस स्वरूप की रीतिसे अपने आपका परिचय करना सो शुद्धात्माका ज्ञान है। ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वका पर्यायबुद्धि जीवोंको कैसे परिज्ञान हो सकता है, क्योंकि अपने आपके बारेमें भी कुछ विचार करते हैं मोही जन तो पर्याय रूपसे ही विचार करते हैं। जो देह मिला, जो अक्ल मिली, जो योग्यता मिली, बस यही मैं सर्वस्व हूं, ऐसा ध्यान रखनेके कारण सहजस्वरूपकी ओर मोहियों की दृष्टि ही नहीं पहुंचती है। तो प्रसंगमें यह समझना चाहिए कि आचार्य महाराजके मिथ्यात्वकर्म उपशांत हैं और अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषायें भी उपशांत हैं, ऐसी स्थितिमें रहने वाले महात्माजनोंके शुद्धात्माके परिचयका विनाश कैसे हो सकता है ?

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥६८८॥

दर्शनमोहके अस्तंगत होनेपर होने वाले शुद्धात्मानुभवमें चारित्रावरणोदयकी अविघ्नकरता—दर्शन मोहकर्मका जब अस्त हो जाता है तो आत्माके शुद्ध तत्त्वका अनुभव होता है। दर्शनमोहका शब्दार्थ है वस्तुके सही स्वरूपके दर्शनमें मोह उत्पन्न करना, बेहोशी करना, पर सही स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो सकता, उल्टा ही परिचय करने लगता, ऐसा जिस कर्मके कारण होता है, ऐसा दर्शनमोहनीय कर्म जब अस्तको प्राप्त हो जाता है तो उस आत्माके शुद्ध तत्त्वका अनुभव होता है। वहाँ चारित्रमोहका उदय कुछ भी विघ्न नहीं कर सकता है। शुद्धात्मतत्त्वके अनुभवकी व्याप्ति सम्यग्दर्शनके साथ है। सम्यग्ज्ञान होनेमें मूल कारण है दर्शन मोहका अनुदय। तो जहाँ दर्शनमोहका अनुदय है वहाँ शुद्धात्मानुभव नियमसे होता है, ऐसे उस सहज शुद्ध तत्त्वके अनुभवमें चारित्रमोहनीय कर्म बाधक नहीं हो सकता है। चारित्रमोहनीयका अर्थ है कि जो चारित्रमें बेसुध रखे, अर्थात् चारित्र प्रकट न होने दे, तो इसके कारण चारित्रमें बाधा देता तो है, पर यथार्थ जो आत्माका सहजस्वरूप है उसके दर्शनमें बाधा डालना चारित्रमोहका काम है। तो आचार्य महाराजके यदि संज्वलनकषायका तीव्र उदय भी हो

जाय तो भी शेष कषायोंका उदय न रहनेके कारण शुद्धात्माके अनुभवमें बाधा नहीं हो सकती है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जो संज्वलनकषायका तीव्र विपाक हुआ है वह विपाक चारित्रके किसी अंशोंमें विषाद उत्पन्न कर देगा। इतनी ही बात बाधाकी समझिये, किन्तु शुद्धात्माके अनुभवमें संज्वलनकषायके उदयसे बाधा नहीं आती।

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्यकृते च तत् ॥६८९॥

संज्वलनकषायोदयकी दर्शनमोहकृतिमें अकिञ्चित्करता—उक्त विवेचनसे प्रधानतया यह सिद्ध किया गया है कि संज्वलनकषायका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें अकिञ्चित्कर है अर्थात् आत्मानुभवमें बाधा नहीं दे सकता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि चारित्रमोहनीयका उदय अकिञ्चित्कर है, लेकिन सर्वथा अकिञ्चित्कर हो सो बात नहीं है। हाँ चारित्रमोहका उदय दर्शनमोहके कार्य करनेमें असमर्थ है, पर चारित्रमोहके उदयमें जो कुछ कार्य होता है उस कार्यमें तो वह समर्थ ही है। तो संज्वलनकषायका तीव्र उदय चारित्रमें कुछ अंशमें दोष उत्पन्न कर दे, यह तो बाधा हो सकती है, पर शुद्ध आत्मतत्त्वमें बाधा नहीं आ सकती है। तब शङ्काकारका यह कहना कि आचार्य महाराज जब साधुसंगको पंचाचारका आचरण कराते हैं तब उस ओर राग हो जानेसे उनके शुद्धात्माका अनुभव न होगा, यह कथन असंगत है।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥६९०॥

आत्मदृष्टिक्षतिकी चारित्रमोहकी अकार्यता—चारित्रमोहनीयका कार्य है आत्माको चारित्रगुणसे च्युत कर देना अर्थात् चारित्रगुणमें बाधा डाल देना, इतना ही चारित्रावरण कर्म का काम है। पर चारित्रमोहनीयका यह कार्य नहीं है कि आत्माके सम्यक्त्व गुणमें क्षति उत्पन्न कर दे, क्योंकि सम्यक्त्व गुण जुदा है, चारित्रगुण जुदा है, इसी कारण सम्यक्त्व गुण के घातक कर्म जुदे हैं और चारित्रगुणके घातक कर्म जुदे हैं। तो जैसे लोकमें देखा जाता है कि दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचाता। एक पुरुषकी निर्मल आँख है, दूसरे पुरुषकी आँखमें दोष है अथवा अंधा है तो कहीं सदोष आँख वाला पुरुष दूसरे पुरुषको दर्शन होनेमें बाधा नहीं कर सकता। इसी तरह समझना चाहिए कि सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्रावरण कर्म बाधा नहीं पहुंचा सकता है। चारित्रावरण तो केवल चारित्रगुणका ही घात कर सकता है। इससे अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य करनेमें समर्थ नहीं है।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतायेपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥६९१॥

दृष्टान्तपूर्वक चारित्रावरणोदयसे आत्मानुभवमें बाधा न पहुंचनेका समर्थन—उक्त

श्लोकमें यह बताया गया है कि चारित्रावरणका उदय आत्मानुभवमें बाधा नहीं पहुंचाता है, इसी विवेचनको स्पष्ट करनेके लिए इस श्लोकमें दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे किसी पुरुषके चक्षु प्रसन्न हैं अर्थात् नेत्र निर्मल हैं और दैवयोगसे किसी दूसरे पुरुषके चक्षुमें कोई पीड़ा है, कोई रोग बना हुआ है तो कहीं उस दूसरे पुरुषके पीड़ित चक्षुओंसे निर्मल चक्षु वालेकी कोई हानि नहीं हुई। यदि किसी पुरुषकी आँख लाल हुई हो, किरकिरा गई हो, देखते न बनता हो तो कहीं उसकी आँखके खराब हो जानेसे निर्मल आँख वाले पुरुषको हानि नहीं पहुंचती है, क्योंकि उसकी आँखोंसे वही देख सकता है और दूसरा अपनी आँखोंसे देखता है। तो इसी तरह समझना चाहिए कि जब गुण दो हैं—चारित्र और सम्यक्त्व और चारित्रगुणका बाधक है, चारित्रमोहनीय सम्यक्त्व गुणका बाधक है दर्शनमोहनीय तो दर्शनमोहनीयका अनुदय होने के कारण जो सम्यक्त्वगुणमें निर्मलता आयी है सो वह बराबर रहेगी। कहीं चारित्रगुणके उदयके कारण सम्यक्त्व गुणमें बाधा न बन जायगी। चारित्रावरण चारित्रमें ही दोष लगा सकेगा। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरणकी अन्य कुछ क्षमता नहीं है।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥६६२॥

कषायोंके अनुद्रेकमें आत्माके चारित्रच्युतिका अभाव— इस श्लोकमें कषायोंका कार्य बताया जा रहा है। जब तक कषायका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जैसे अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम रहेगा अर्थात् अनुदय रहेगा तब तक श्रावकके व्रत, अणुव्रत आदिक एकदेश संयम बना रहेगा और जब प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होगा अर्थात् संयमका आवरण करने वाली प्रकृतिका अनुदय रहेगा तब तक महाव्रत आदिक भली-भाँति रहते हैं। तो कषायोंके अनुदय तक चारित्रकी अभिव्यक्त है, और जब कषायोंका उदय हो जाता है, जिस पुरुषकी कषाय उपशांत थीं उसीके जब कषायोंका उदय हो जाता है तो आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है और जिन पुरुषोंके इन कषायोंका उदय पहिलेसे ही चल रहा है वे पुरुष चारित्रसे तो गिरे हुए ही बने हुए हैं। सारांश यह है कि चारित्रसे च्युत कर देना कषायों का काम है। जब तक कषायें नहीं रहती हैं तब तक चारित्र भली-भांति रहता है, सो आचार्य परमेष्ठीमें चारित्रावरणका अनुदय होनेसे चारित्र भी बना हुआ है और दर्शनमोहका सर्वथा अनुदय होनेसे सम्यक्त्वगुण और शुद्धात्माका अनुभव बराबर रह सकता है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदया दृते ॥६६३॥

दृङ्मोहोदयके अभावमें आत्मदृष्टिक्षतिकी अशक्यता—उक्त सर्व कथनका सारांश इस श्लोकमें बताया गया है कि कषायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो, शुद्धात्माके अनुभवमें क्षति

पहुंचेगी तो दर्शनमोहके उदयसे ही पहुंच सकेगी। चारित्रमोहके उदयसे शुद्धात्माकी अनुभूतिमें क्षति नहीं पहुंचती है। तो पहिले जो यह बताया गया था कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन तीन गुरुवोंमें अन्तरङ्ग विकासकी समानता है, और ये तीनों ही गुरु ध्यानकी विशुद्धिके प्रतापसे अष्टकर्मोंका क्षय करके मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। तो ऐसी समानताकी बात सुनकर और आचार्योंकी जो विशेषता बतायी गई उसे सुनकर, जिज्ञासुने यह आशंका प्रकट की थी कि जो साधु संगको पंचाचारोंका आचरण कराते हैं, प्रायश्चित देते हैं, दीक्षा देते हैं तो ऐसे व्यवहार कार्यमें प्रवृत्ति करने वाले आचार्यके शुद्धात्मानुभूति कैसे रह सकती है? और तब वे साधुपरमेष्ठीके समान कैसे कहे जा सकते हैं? इस आशङ्काका उक्त विवेचनमें भली-भाँति समाधान कर दिया गया है, जिसका सारांश यह है कि शुद्धात्मानुभव सम्यक्त्वके साथ है। दर्शनमोहका अनुदय होनेसे शुद्धात्मानुभव हुआ करता है। कहीं संज्वलनकषायका तीव्र विपाक हो जाय तो वह विपाक शुद्धात्माकी अनुभूतिमें रंचमात्र भी बाधक नहीं होता है। हाँ केवल संक्लेश कुछ अंशोंमें हो जाता है। इतना मात्र संज्वलनकषायके तीव्र विपाकका कार्य है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥६६४॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमौ मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥६६५॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धे समत्वतः ॥६६६॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥६६७॥

आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंमें गुरुत्वकी समानताका सयुक्तिक वर्णन—आचार्य और उपाध्याय दोनों समान गुण वाले हैं। जो कारण आचार्यके हैं वे ही उपाध्यायके हैं। दोनों ही साधु पुरुष हैं, साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें मूल गुण और उत्तर गुण सम्बंधी दोनों ही पालन करते हैं। साधुकी तरह ही ये आत्माका अनुभव करने वाले हैं और शुद्धोपयोग सहित हैं अर्थात् आचार्य, उपाध्याय दोनों साधुके समान ही मोक्षमार्गके उत्कर्षको पाये हुए हैं। इस कारण आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर कोई तरतमता रूपसे विशेषता नहीं पायी जाती है। गुरुत्वकी दृष्टिसे यदि कोई इनमें अन्तर छांटने लगे वह आचार्य और उपाध्यायमें बड़ा कौन है? तो वहाँ यह अन्तर न छाँटा जा सकेगा। इन दोनोंमें जो बात पायी जाती है वही साधुमें पायी जाती है। कोई यह छाँटना चाहे कि आचार्य और उपाध्याय तथा साधु इन तीनोंमें अतिशयशाली कौन है? तो गुरुत्वकी दृष्टिसे, मोक्षमार्गके पालनकी दृष्टिसे यहाँ भी कोई अंतर

नहीं डाल सकता। ऐसा नहीं है कि साधुमें तो कोई अन्तरङ्ग विशेष उत्कर्ष हो और वह उत्कर्ष आचार्य अथवा उपाध्यायमें न हो, किन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही परमेष्ठी अन्तःशुद्धिकी दृष्टिसे समान हैं। यदि कोई इन तीनोंमें लेशमात्र विशेषता है तो वह बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे है। जो कुछ विशेषता बतायी गई है, और जिसके कारण आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों प्रकारके बताये गए हैं। वह विशेषता थोड़ीसी है, और वह भी बाह्यक्रियासम्बंधी, अंतरङ्गशुद्धिकी दृष्टिसे तीनोंमें समानता पायी जाती है, इस कारण बाह्य क्रिया का भले ही भेद हो, पर अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे ये तीनों ही गुरु कहलाते हैं। गुरुता का मूल कारण तो दोषोंका क्षय है अथवा दोष क्षयसे होने वाली अंतःशुद्धि है। सो यह अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान रूपसे पायी जाती है। तीनोंमें ही संज्वलन कषायका मंद उदय, मध्यम उदय और तीव्र उदय सम्भव है। जैसे यंत्रोंका उदय हो वहाँ उस सीमामें परिणाम होता है, यह बात युक्ति स्वानुभव और आगमसे प्रसिद्ध है। सो वह तीव्र विपाक वाला भी संक्लेश इन तीनोंके आत्माकी शुद्धिमें अनुभूतिमें बाधा नहीं डाल पाता है। इस तरह आचार्य, उपाध्याय और साधु, तीनों ही गुरु कहलाते हैं। अमूढ़दृष्टिके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि अदेव में देवबुद्धि करना, धर्ममें अधर्म बुद्धि करना और गुरुमें गुरुबुद्धि करना, ये सब अमूढ़दृष्टि हैं। जहाँ मूढ़दृष्टि नहीं रहती है वहाँ अमूढ़दृष्टि अंग होता है। तो इस प्रकरणमें अदेव, अधर्म और अगुरुका स्वरूप कहना भी आवश्यक था। वह तो बता दिया गया और चूंकि विधि-मार्गमें निषेध्यके कहने-कहनेकी अधिक आवश्यकता नहीं होती है। निषेध्य तो यों समझ लिया जाता है कि जो विधिमें नहीं कहा गया है वह सब निषेध्य है। यों अदेव आदिकका संक्षेपतः स्वरूप कहा और उन देव धर्मगुरुका विशेष रूपसे स्वरूप कथन चल रहा है, जिसमें देवका कथन कुछ इस प्रसंगमें यह कहा गया है कि गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज ही होते हैं।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्याय साधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥६६८॥

शुद्धिकी तरतमतासे प्रत्येकमें बहुविधता—अंतःशुद्धिकी दृष्टिसे गुरुवोंको एक प्रकार का ही कहा गया है और बाह्यक्रियाकी दृष्टिसे तीन प्रकार बताये गए हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें आदेश और उपदेशके जो अधिकारी हैं वे आचार्य कहलाते हैं और प्रधानतया धर्मोपदेशके अधिकारी हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं, और सर्वक्रियाओंसे निवृत्त होकर केवल आत्मसाधनामें ही जो तत्पर रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। अब इन तीनोंमें भी सूक्ष्मदृष्टिसे प्रकार निरखे जायें तो अनेक भेद हो जाते हैं और ये सब भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावकी अपेक्षासे हो जाते हैं। चूंकि ये भाव कर्मप्रकृतियोंके उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशमकी अपेक्षा रखकर चल रहे हैं तो प्रकृतियाँ चूंकि नाना हैं, इस कारण भाव भी नाना प्रकारके हो जाते

हैं। इस तरह सूक्ष्मदृष्टिसे भावोंकी नाना प्रकारता ध्यानमें रखकर गुरुवोंके अनेक भेद हो जाया करते हैं।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥६९९॥

आचार्यके भी जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट विशुद्धिका अवसर—उक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु–इन तीनोंके भी अनेक भेद हो जाते हैं और वे होते हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे। उसीका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया गया है। कोई आचार्य उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम और कभी जघन्यको प्राप्त हो जाता है। संज्वलनकषायका तीव्र, मध्यम, मंद उदय होनेसे आचार्य महाराजके विशुद्धिका यह अन्तर आ जाया करता है, लेकिन यहाँ पहिले ही बता दिया गया है कि संज्वलनकषायके विपाकके अन्तरसे जो संक्लेश विशुद्धिका अन्तर हो जाता है उससे कहीं शुद्ध आत्माकी अनुभूतिमें बाधा नहीं आती। धन्य हैं ऐसे ये गुरुराज कि जो शुद्ध आत्माकी लगनमें निरन्तर बने रहा करते हैं। तो यों आचार्य महाराज संज्वलनकषायके विपाक भेदके कारण विशुद्धिकी मध्यम, उत्कृष्ट और जघन्य दशामें आ जाया करते हैं। यों आचार्य भी अन्य भावोंकी सूक्ष्मदृष्टिसे अनेक प्रकारके होते हैं।

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशैः स्पर्धकाः क्षणम्।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥७००॥

आचार्यपरमेष्ठीकी विशुद्धि बहुविधतामें सज्वलनस्पर्द्धकोंकी कारणता तथा धर्मादेशोपदेशादिकी अकारणता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि आचार्य महाराजके भी भावों की विशुद्धिकी ततंमताके कारण अनेक भेद हो जाते हैं, सो इस भेदका कारण क्या है? यह बात इस श्लोकमें बतायी जा रही है। उक्त श्लोकमें जो विशुद्धि बतायी गई है कि कभी उत्कृष्ट रूपसे, कभी मध्यम रूपसे और कभी जघन्य रूपसे हो जाती है। सो इस कारण हो जाती है कि वहाँ अनेक प्रकारके भावोंमें तर्तमताके कारणभूत कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते हैं, सो इस तरह उनमें विशुद्धिकी तर्तमता तो आ गयी, लेकिन इस विशुद्धिके तर्तम्यमें बाह्यक्रियावोंको कारण नहीं कहा जा सकता। जैसे वे आचार्य महाराज धर्मका उपदेश करते हैं, धर्मका आदेश देते हैं तो ये बाह्य कारण विशुद्धिकी तर्तमताके कारण नहीं हुआ करते हैं। आचार्यपरमेष्ठी जो धर्मका आदेश, उपदेश करते हैं वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नहीं है, क्योंकि धार्मिक आदेश, उपदेश करनेपर भी आचार्य महाराजमें प्रमाद लेशमात्र नहीं है। विशुद्धिमें जो हीनता होती है उसके कारण संज्वलनकषायके स्पर्धकोंका उदय है। इस श्लोकमें यह सिद्ध किया गया है कि जैसे लोग समझ लेते हैं कि मुनि महाराजोंका शासन

करते हैं आचार्य, इस कारण आचार्यके चारित्रमें शिथिलता आ जाती होगी....तो उनका यह समझना केवल भ्रमपूर्ण है। आचार्यका शासन कषायसहित नहीं होता, किन्तु उनका धार्मिक शासन है, निष्कषाय है, धर्म और धर्मात्माके अनुरागसे वह शासन हुआ करता है। इस कारण आचार्यका यह धार्मिक शासन दोषका भी उत्पादक नहीं हो सकता है। हाँ जो आचार्य महाराजमें विशुद्धिकी मध्यमता, और जघन्यता आयी है, सो इस तरहकी मध्यमता, जघन्यता साधुमें भी, उपाध्यायमें भी आया करती है और वह आती है संज्वलनकषायकी तीव्रता आदिकके कारण।

परिपाटयानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥७०१॥

उपाध्याय व साधुवोंमें भी विशुद्धितारतम्यसे भेद होनेपर भी गुरुत्वकी अपेक्षा तीनोंमें अविशेषता—जैसे कि उक्त श्लोकोंमें आचार्य महाराजमें विशुद्धिके भेद बताये गए हैं, इसी परिपाटीके अनुसार उपाध्याय और साधुवोंके भी भेद समझ लेना चाहिए। जैसे साधु महाराज सब एक ही प्रकारके हैं वे आदेश उपदेशके श्रमसे दूर रहकर केवल एक आत्माकी आराधनामें ही संलग्न रहा करते हैं तिसपर भी चूंकि संज्वलनकषायके विपाक इतने भी आया करते हैं, इस कारण उनके भी इसी प्रकार विशुद्धिके भेद होते हैं। तो आचार्यकी जो अन्तः विधि है उस ही प्रकार उपाध्याय और साधुवोंकी विधिमें आचार्य महाराजसे कोई विशेषता उपाध्याय और साधुवोंमें नहीं रह जाती है, इस कारणसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों ही गुरुराज समान गुरु हैं, ऐसी इन गुरुवोंमें गुरुत्वबुद्धि रखना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

नोह्यं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं वहिः।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्वहिः क्वचित् ॥७०२॥

आचार्यपरमेष्ठीके जघन्य मध्यमादि विशुद्धिमें धर्मादेशादि बाह्यक्रियाओंकी अकारणता—इस श्लोकमें बाह्य कारणोंपर विचार किया जा रहा है कि आचार्य महाराजमें जो बाह्यक्रियायें होती हैं वे कैसी और किस प्रकार होती हैं? इस बातको थोड़ी जिज्ञासा रखकर उसके समाधानपूर्वक कहा जायगा। यहाँ कोई यदि ऐसा कहे कि आचार्यकी विशेषतायें बाह्यक्रियायें याने धर्मका उपदेश चैतन्यधर्मका आदेश जो किया जाता है वह बाह्यक्रिया कारण है, क्योंकि कहींपर बाह्यक्रियावोंमें भी अन्तरङ्ग भावोंका कारण तो होता ही है। इस कारण आचार्य महाराजमें जो मध्यम, जघन्य विशुद्धि आती है उसका कारण ये बाह्यक्रियायें होनी चाहिये अर्थात् कर्मोदयरूप अन्तरङ्ग कारणमें धर्मोपदेश आदिक क्रियावोंको कारण मानना चाहिए। करणानुयोगकी भी पद्धति यही है कि कर्मविपाकके लिए बाह्यपदार्थ नोकर्म हुआ

करते हैं । तो इस तरहका जो ऊपर निषेक किया गया है कि आचार्य महाराजमें जो विशुद्धि भेद होता है वह बाह्यक्रियावोंके कारण नहीं होता, किन्तु संज्वलनकषायके उदयके कारण होता है, सो बात यद्यपि यह ठीक है, लेकिन संज्वलनकषायके तीव्र उदय होनेके लिए बाह्य-क्रियायें नोकर्म बन जाया करती हैं, इस कारण बाह्यक्रियावोंके भेदसे आचार्य महाराजमें भेद होता है, इस प्रकारकी एक तर्कणा शंकाकारकी ओरसे हुई । अब उसका समाधान करते हैं कि ऐसी तर्कणा करना संगत नहीं है, इसका कारण बताते हैं ।

नैवमर्थाद्यत: सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं वहि: ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ।।७०३।।

लोकफलकी वाञ्छाका अभाव होनेसे बाह्यक्रियाओंसे विशुद्धिमें बाधाका अभाव— उक्त श्लोकमें जो तर्कणा उठायी गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि बाहरी जितने भी पदार्थ हैं वे सब अकिञ्चित्कर हैं । नीति भी वस्तुस्वरूपकी यही है कि बाह्य पदार्थ किसी अन्यकी परिणतिका कारण नहीं हुआ करता । तो इस प्रकार आचार्य महाराजकी जो बाह्य क्रियायें हैं सो कहीं उन क्रियावोंके कारण विशुद्धिभेद नहीं हो जाता । हाँ, यदि कोई मोहके वश होकर आचार्य आदिक पदोंको चाहे तो उसका बाह्य पद चूँकि वाञ्छा सहित है तो उसका फल भी होगा । फल अर्थात् संसारवृद्धि या सांसारिक बंध, सांसारिक परिणाम उसका फल होगा । इस श्लोकमें यह बात बतायी गई कि आचार्य महाराज निरीह हैं, उनमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, इस कारण उनकी बाह्य क्रियायें फलवान नहीं होतीं । सामान्य नियम भी यही है कि जो कुछ चाहते हुए क्रियायें करेगा सो बंध पायेगा और जो कुछ भी नहीं चाह रहा है, फिर भी उसकी क्रियायें होती हैं उसको बन्ध नहीं होता । आचार्य महाराज संसार, शरीर-भोगोंसे इतना अधिक विरक्त हैं और आत्महितकी साधनाके लिए अत्यन्त सावधान हैं, इस कारण आचार्य महाराजकी बाह्य क्रियायें कदाचित् होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता । आचार्य महाराज कैसे निरीह हैं, उनकी निरीहताका अब कुछ कथन करते हैं ।

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहि: ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ।।७०४।।

बाह्यक्रियाओंको करके भी उनकी अनिच्छाकी आचार्यमें विशेषता— धर्मका आदेश, धर्मका उपदेश और अपने पद तथा उसका फल आदिक सम्पूर्ण बाह्यको आचार्य महाराज सर्वथा नहीं चाहते हैं । सो आचार्यकी यह बात एक अलग है कि इतनी क्रियायें करके भी वे उन क्रियावोंके सम्बन्धमें कुछ भी चाह नहीं रख रहे हैं । धर्मादेश आदिक क्रियायें आचार्य करते तो हैं, पर चाहपूर्वक नहीं करते हैं । यदि चाहपूर्वक कर लें, मेरेमें आचार्यपना रहे, मैं इनका आचार्य हूं, मुझे प्रतिक्रमण आदिक कराना चाहिए, आदिक बातें सोचकर यदि क्रियायें

करते हैं तो उनमें गुरुता भी नहीं रही, आचार्यपनेकी तो बात ही क्या कही जाय ? लेकिन धन्य है इनकी अन्तरङ्ग पवित्रता कि आत्माकी आराधनामें सावधान रहते हुए भी रत्नत्रयकी भक्तिसे ये साधुसंगका धार्मिक पोषण किया करते हैं। तो धार्मिक विधिसे जो दीक्षा प्रायश्चित आदिक प्रदान करते हैं, इस कारण भी ये बाह्य वृत्तियाँ, ये बाह्य कारण उनकी विशुद्धिके घातक नहीं हो सकते हैं। यहाँ एक आशङ्का उठ सकती है कि जब आचार्यमहाराज मुनियों पर पूर्ण रीतिसे धर्मका आदेश आदिकका शासन करते हैं तो कैसे कहा जा सकता है कि उनके इस शासनकी इच्छा नहीं है ? बिना इच्छाके तो कोई शासन कर ही नहीं सकता है ? अब इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मदिशादि कर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ।।७०५।।

आचार्यकी बाह्यक्रियाओंमें निरीहता—आचार्य महाराज धर्मका आदेश, उपदेश आदिक क्रियायें करते हैं तिसपर भी वे आचार्य इच्छारहित हैं, यह बात असिद्ध नहीं है। इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाय, वास्तवमें इच्छा उसीका ही काम है, किन्तु जहाँ धार्मिक क्रियाओंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा कहते हैं। साधु परमेष्ठी, आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी तीनों ही गुरुवोंके मूल गुणमें बताया गया है कि इन्द्रियके विषयोंका इनके विरोध हो जाता है। जिसने संसारकी परिस्थितिका भली प्रकार परिचय किया है कि विषय कषायोंके परिणाम ही तो संसार हैं और ये ही परिणाम जन्म-मरणके मूल कारण हैं। संसार में महती विपत्ति जन्म-मरणकी बनी हुई है, जन्म-मरण करते हुए यह जीव महान कष्ट भोग रहा है। इसकी अधमता बन रही है। तो जिसने आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन अनुभव किया है और इस सहजस्वरूपके अनुभवमें जो अनुपम आत्मीय आनन्द प्राप्त किया है, ऐसे आनन्दमें तृप्त रहने वाले आचार्य महाराज क्या किसी इन्द्रियविषयमें इच्छा कर सकेंगे ? उनको पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें कोई इच्छा नहीं है, साथ ही मनके विषयकी भी कुछ इच्छा नहीं है। मनका विषय है कीर्तिचाह, पूजालाभ आदिक चाहना, लौकिक बड़प्पन चाहना। सो भला जिसने यह अनुभव किया है कि मैं तो वह ज्ञानस्वरूप हूं, जिसका लोगोंको परिचय नहीं है। यह समस्त लोक इस मुझ आत्मारामको जानता नहीं है। तब फिर इन अनादि अपरिचित लोगोंसे वे अपने बड़प्पनकी क्या चाह कर सकेंगे ? तो आचार्य महाराजके न तो इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी वाञ्छा है और न मानसिक विषयोंकी इच्छा है। ऐसे सर्व प्रकारके विषयोंकी इच्छासे रहित आचार्य महाराजमें कोई धार्मिक क्रियायें हो रही हों तो इन धार्मिक बाह्यक्रियावोंके कारण उनके बन्ध नहीं होना और न उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिमें अन्तर आ सकता है। विशुद्धिमें जो भेद आया है उस संज्वलनकषायके विपाकभेदसे भेद आया है।

बस्तुतः तो तीनों ही गुरु अन्तः सावधान हैं और एक समान गुरु हैं एवं पूज्य हैं ।

ननु नेहा बिना कर्म कर्म नेहां बिना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ।।७०६।।

इच्छाके बिना क्रिया व क्रियाके बिना इच्छा न हो सकनेकी एक आशङ्का—प्रकरण यह चल रहा है कि आचार्य महाराज सैकड़ों हजारों मुनियोंको दीक्षा देते हैं, प्रायश्चित देते हैं, इनके पंचाचारका पालन भी कराते हैं, इतनी धार्मिक क्रियायें करनेके बाद भी आचार्य महाराजके कर्मबन्ध नहीं होता और न उनके आत्मामें कुछ भी अन्तर आता है । तो इसका कारण बताया है कि आचार्य परमेष्ठीको भीतरमें किसी भी प्रकारके विषयकी इच्छा नहीं है । तो विषयोंकी इच्छा न होनेसे धार्मिक कार्य करा रहे हैं, फिर भी उनके परिणामोंमें संक्लेश नहीं होता । इसपर शङ्काकार यह कह रहा है कि लोकमें यहाँ देखा जा रहा है कि बिना काम किए इच्छा नहीं होती और बिना इच्छा किए काम नहीं होता । इच्छा और क्रियाका करना जब इनमें अविनाभाव देखा जा रहा है तो आचार्यमें यह कैसे हो जायगा कि उनके इच्छा तो नहीं है, पर वे आदेश उपदेश धार्मिक क्रियावोंका पालन आदिक करायें, यह कैसे सम्भव है ? तो शंकाकारका यह कहना है कि चाहे संसारके विषयोंकी क्रिया हो, चाहे धर्मके सम्बन्धकी क्रिया हो, कैसी ही क्रिया हो, इच्छाके बिना तो क्रिया सम्भव है नहीं । तो जब आचार्य साधुवोंको प्रायश्चित आदिक देते हैं तो उनके इच्छा कैसे न होगी ? इस कारण यह मान लेना चाहिए कि आचार्यके धर्म सम्बधी क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही होती हैं तो आचार्य इच्छासहित हो गए, फिर तो उनकी विशुद्धिमें अन्तर आ जाना चाहिए ? अब इस शंकाका उत्तर देते हैं—

नैवं हेतोरतिव्याप्तेराराददक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ।।७०७।।

इच्छाके बिना भी क्रिया हो सकनेका विवरण देते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शङ्कायें संगत नहीं हैं कि देखो साधु साधना करते-करते १२वें गुणस्थान तक पहुंच जाते हैं तो १२वें गुणस्थानमें भी मन, वचन, कायकी क्रियायें बतायी गई हैं, तो वहाँ भी विशुद्धिमें क्या अन्तर है ? नहीं है अथवा देखो—भगवान अरहंत विहार भी करते हैं, दिव्यध्वनि भी उनके खिरती है, बैठते भी हैं, खड़े भी होते हैं, चलते हैं और पैरके आगे पैर रखकर चला करते हैं, चलते हैं अरहंत भगवान आकाशमें ही, लेकिन चलनेकी पद्धति उनकी वैसी ही है जैसी कि हम आप लोगोंकी है । तो विहार करना, दिव्यध्वनि खिरना आदिक ये सब क्रियायें हो रही हैं तो इच्छाके बिना ही तो ये सब क्रियायें हो रही हैं । भगवानके इच्छा नहीं हैं, वे रागादिकसे सर्वथा रहित हैं । तो देखो—कुछ क्रियायें ऐसी भी होती

हैं कि इच्छा नहीं हैं और हुआ करती हैं। योगियोंमें तो बहुत सम्भव है ऐसी बात कि मन, वचन, कायकी चेष्टा हो और इच्छा न हो। यहाँ भी लौकिक जनोंमें देखा जाता है कभी-कभी कि इच्छा नहीं है और करना पड़ रहा है। जैसे पिताके हुक्मसे बालकको अनेक काम करने पड़ते हैं, इच्छा नहीं है और करने पड़ते हैं। कैदियोंको इच्छा नहीं है कोई काम करनेकी, मगर करना पड़ता है। तो लोकमें भी देखा जाता है, वहाँ तो किसी अन्य किस्मकी इच्छा कह सकते हैं, पर योगियोंमें बिना इच्छाके ही चेष्टायें हुआ करती हैं। यदि यह नियम बना दिया जाय कि जो भी क्रिया होगी वह बंध कहलायेगी तो फिर इस जीवकी कभी मुक्ति हो ही नहीं सकतीं, क्योंकि श्रेणीमें बहुत ऊपर जाकर भी क्रियायें बराबर रहती हैं, और क्रियायें रहेंगी तब तक बंध कह रहे हो तो फिर बन्धसे छुटकारा कब होगा? कभी न होगा। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि क्रियायें इच्छाके सद्भावमें भी होती हैं और इच्छाके न रहने पर भी होती हैं। ऐसा नियम न बनायें कि इच्छाके बिना क्रियायें हो ही नहीं सकतीं। १०वें गुणस्थानके अन्तमें १२वें गुणस्थानमें भी क्रियायें तो हैं, पर इच्छा नहीं है, क्योंकि इच्छा लोभकषायकी पर्याय है, और १०वें गुणस्थानके अंतमें लोभ रहता नहीं। तो जब किसी प्रकार की कषाय न रही और इच्छा बराबर चल रही है तो यह तो मान लेना चाहिए कि इच्छाके बिना भी क्रिया होती है, तब उस क्रियासे बन्ध न मानें। बन्ध हुआ करता है कषायसे। जिस जीवके कषाय नहीं है उसके क्रिया हो तो भी बन्ध नहीं होता। मुनि महाराजके, आचार्य महाराजके अनेक क्रियायें होती हैं, पर उन क्रियावोंसे उनके संक्लेश नहीं होता और न बन्ध होता है। तो आचार्य महाराज अनेक धार्मिक क्रियायें करते हैं तिसपर भी आचार्य का अन्तरङ्ग उतना ही शुद्ध है जितना कि अन्य साधुजनोंका शुद्ध है।

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धैर्नानांशतस्त्रिषु।
निर्विशेषात्समस्तत्रैष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥७०८॥

ज्ञानविशुद्धिकी शरण्यता—उक्त कथनका सारांश यह है कि संसारमें इस जीवका शरण है तो अपने ज्ञानकी शुद्धता शरण है। यह जीव मोहमें नाना विकल्प करता है, मेरेको वैभव शरण होगा, घर मकान अच्छा होगा तो मेरा हित है अथवा परिजन हमारे आज्ञाकारी हैं तो उससे हमारा हित और कुछ हो सकता है····ये सब विकल्प मोहियोंके उठते हैं। वस्तुतः इस आत्माको तो यह शरीर भी शरण नहीं है, और शरीरके शरणकी बात क्या कहें—यह बात सत्य समझें कि हमारे जितने क्लेश हैं, जितनी गंदगी आती है, जितना हमारा पतन है, संसारमें जन्ममरण है, सारी विडम्बनायें इस शरीरके ही कारण हैं। कल्पना करो कि यह शरीर न हो, केवल मैं आत्मा ही आत्मा होऊँ तो उसमें कोई आपत्ति आ सकेगी क्या? ऐसे तो सिद्ध भगवान कहलाते हैं। जिनके शरीर नहीं, कर्म नहीं वे सिद्ध भगवान हैं, वे अनन्त

आनन्दमें निरन्तर तृप्त रहा करते हैं। उनमें कोई विडम्बना नहीं, कोई विकार नहीं। तो जितने भी क्लेश हैं, जितनी विडम्बनायें हैं वे सब इस दुष्ट शरीरके कारण हैं। अपने आपके शरीरको लक्ष्यमें लेकर कहा गया—यह शरीर जो महा अपवित्र है, मल-मूत्र, खून, हड्डी, मांस-मज्जा आदिक महा गंदी चीजोंसे भरा हुआ है, जिसकी रक्षा करनेपर भी रक्षा नहीं होती है, जिसमें रागादिक आयें तो बड़ा कष्ट होता है। जिस शरीरके रहनेके कारण यह मान लिया जाता है कि यह मेरा इष्ट है, यह मेरा अनिष्ट है, यह मित्र है, यह विरोधी है····, तो ये सारे नटखट इस शरीरके ही कारण हो रहे हैं, ऐसे इस शरीरमें रंचमात्र भी प्रीति न करें, फिर भी इस शरीरको थोड़ा खिलाना-पिलाना चाहिए, थोड़ा स्वस्थ भी रखना चाहिए, क्योंकि जैसे किसी भी कर्मचारीको खिलाये-पिलाये बिना वह काम तो नहीं कर सकता, इसी प्रकार यह शरीर कर्मचारी बन रहा है, इससे हमें संयमकी साधनामें मदद लेनी है। यद्यपि संयम कहलाता है ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानका मग्न करना और उसमें यह शरीर सहायता नहीं करता, लेकिन इस मनुष्यभवमें ही संयमकी साधना बनाना है तो इस भव (शरीर) की थोड़ी रक्षा करना है।····किसलिए ?····धर्मसाधनाके लिए। अपना एक निर्णय रखें कि मेरा यह जीवन तो सिर्फ धर्मपालनके लिए है अन्य कामोंके लिए मेरा यह जीवन नहीं है। सोच लो—अन्य काम आप क्या चाहते हैं, जिसके लिए आप अपना जीवन लगाये दे रहे हैं ? मान लो लाखोंका धन जोड़कर रख गए तो उससे लाभ क्या मिल जायगा ? आखिर यहाँसे मरण करके तो जाना ही होगा। सारा ठाठ यहींका यहीं पड़ा रह जायगा। मान लो आपने अपने बच्चोंको सुशिक्षित बना दिया, किसी उच्च पदपर पहुंचा दिया तो उससे आपके जीवको क्या मिल गया ? दुनियामें कोई बाहरी बात इस जीवके लिए शरण नहीं है। शरण है तो यही है कि आप अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको परख लें। यहाँ मेरा स्वरूप क्या है ? शरीर मेरा स्वरूप नहीं, विकल्प विचार रागद्वेष आदिक मेरे स्वरूप नहीं, किन्तु एक सहज ज्ञानप्रकाश केवल जाननमात्र यह ज्ञानस्वरूप यही मेरा स्वरूप है, उसको ज्ञानमें लें और बाहरी विकल्प दूर करें, यों ज्ञानमें ज्ञानको लेनेसे जो अलौकिक आनन्द आयगा, बस वही सार चीज है।

गुरुवोंमें अन्तर्दृष्टिकी समानता—जगतमें ज्ञातृत्व स्थितिके अतिरिक्त अन्य कुछ सार चीज नहीं है, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त हो गया है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गया है, ऐसे ये महापुरुष आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये तीन प्रकारके पाये जाते हैं—सो ये तीन प्रकारके गुरु हैं। इन गुरुवोंमें कभी-कभी विशुद्धिमें जो कुछ अंतर आ जाता है सो भीतरके भावके कारण आता है, बाहरी क्रियावोंके कारण नहीं आता है। आचार्यमहाराज मुनिसंघसे धार्मिक क्रियायें कराते हैं, इससे उनके आत्मामें फर्क नहीं आता। हाँ संज्वलनकषायका तीव्र उदय हो तो थोड़ा विशुद्धिमें अन्तर आयगा, तो वह भीतरकी

योग्यतासे अंतर है, न कि बाहरी क्रिया करनेका । अंतःदृष्टिसे निरखें तो तीनों प्रकारके गुरुवों में समान गुरुपना है, उनमें बाह्य क्रियायें होती हैं, इस कारणसे भेद मत समझें । भेद उनमें यदि है तो उनके ही कारण उनमें भेद है, पर हम लोगोंके लिए तो वे तीनों ही एक समान गुरु हैं ।

किञ्चास्ति यौगिकी रूढ़िः प्रसिद्धा परमागमे ।
बिना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥७०९॥
तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥७१०॥

साधुताके बिना केवलोत्पत्तिकी असम्भवता—अब शब्दमें अर्थ करनेकी पद्धति दो तरहसे होती है—(१) यौगिकी, (२) रूढ़ि । रूढ़िके मायने तो हैं कि जो रूढ़िमें चला आया है वह समझ लेना, और यौगिकी पद्धतिका अर्थ यह है कि शब्दमें जो अर्थ बसा हुआ है वही अर्थ होना । जैसे मनुष्य किसे कहते हैं ? तो रूढ़िसे जिसके दो हाथ-पैर हैं, पैरोंसे चलते हैं, पूंछ, सींग आदि नहीं हैं, ऐसे जो प्राणी हैं वे मनुष्य कहलाते हैं । यह रूढ़िका मनुष्य है, और यौगिकी पद्धतिसे मनुष्य कौन है ? जिसका मन श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ मन होनेसे मनुष्य नाम पड़ा है । तो यौगिकी पद्धतिसे जो विवेकी हैं, श्रेष्ठ मन वाले हैं, दयामें तत्पर हैं, धर्ममें चित्त बसाये रहते हैं वे मनुष्य कहलाते है । तो आचार्य शब्दका भी अर्थ रूढ़िसे तो यह है कि जो साधुवोंका नायक है और यौगिकी पद्धतिसे अर्थ यह है कि जो स्वयं ५ आचारोंका आचरण करे और दूसरे मुनियोंसे कराये वह आचार्य है । तो यौगिकी रीति और रूढ़िसे यह बात आगममें प्रसिद्ध है कि बिना साधुपद प्राप्त किए केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है । यौगिकी पद्धतिसे उपाध्याय वह कहलाता है जो बड़े शास्त्रोंका अध्ययन किए हुये हो और दूसरे शिष्योंसे अध्ययन कराये, और साधु शब्दका अर्थ है कि जो आत्महितकी साधना करे, और यौगिकी पद्धतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों ही आत्माकी साधनामें लगे हैं । तो यहाँ बात बताई गई है कि साधु हुए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता । आजकलके समय में यद्यपि केवलज्ञान नहीं होता है, ७वें गुणस्थानसे ऊपर गुणस्थान नहीं हो सकता । तो किसी भी मनुष्यको केवलज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर पदमें आनेसे जो सिलसिला चलता है वह तो हितकारी है । इस कारण जितना अधिक लाभ हो सकता है आत्मा की शांतिका वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर पदमें भी हो सकता है । तो साधुपद प्राप्त किए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता । यह बात आगममें भली प्रकार बतायी है, और आगममें यह भी बताया है कि श्रेणीमें चढ़ने वाले साधु पुरुषको क्षणमात्रमें केवलज्ञान पदकी प्राप्ति होती है । तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधु अवस्था ही गुरुकी अवस्था हो सकती है । गुरु दो प्रकारके होते

हैं–(१) धर्मगुरु और (२) शिक्षागुरु। अथवा लौकिक गुरु और अलौकिक गुरु। धर्मगुरु अलौकिक गुरु होते हैं। आत्माका धर्म, शान्ति, मोक्ष चाहिए हो तो किस गुरुकी खोज करना चाहिए ? जो मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, ऐसे गुरु ढूंढ़ना चाहिए। वे गुरु आचार्य, उपाध्याय और साधु ही हो सकते हैं। यहाँ जो लौकिक गुरु अथवा शिक्षागुरु हैं, ये जो लौकिक विद्यायें हिन्दी, अंग्रेजी आदि पढ़ा देते हैं वे भी व्यवहारमें गुरु कहलाते हैं। तो धर्ममार्गमें गुरु साधु ही हो सकते हैं।

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥७११॥

गुरुवोंका ध्यानाग्रणी होनेका यत्न—आत्माका भला ध्यानसे है। ध्यान भी किसका करे ? आत्माका। बाहरमें जब कहीं कुछ भी मेरा नहीं है, खूब तर्कणापूर्वक विचार कर लीजिए, इतनी उम्र हम आपकी हो चुकी, लेकिन बताइये आज तक जो भी साधन पाये उनसे आत्माको लाभ क्या मिला ? क्या-क्या काम नहीं कर डाला ? कितने-कितने आपके साधन बनाये, कितने ही समागम बनाये, अथवा आज भी जो कुछ विभूतियाँ हैं, इन सबके जोड़नेसे इस आत्माको लाभ क्या मिला ? अशान्ति, अधीरता आदिक तो वही है। क्या करना चाहिए उसका निर्णय भी नहीं हो सका है। तो यह आत्मा तो रीता ही पड़ा हुआ है। इतनी उम्र होनेके बाद भी आत्मामें भरापना नजर नहीं आ रहा। भरापना उसे कहते हैं कि जिसे तृप्ति कहते हैं। तृप्ति तो है नहीं, तब आज तकके मिले हुए समागमोंसे लाभ क्या मिला ? सारे समागम इस जीवके लिए अहितकारी हैं, इस आत्माका भला तो आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है वह ज्ञानमें रहे, उससे ही भला है। तो ध्यान करना चाहिए आत्माका, और आत्माका भी ऐसा ऊँचा ध्यान होना चाहिए कि जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमें रहे, कोई विकल्प न आये। ऐसा उत्कृष्ट ध्यान कहां होगा ? मुनियोंकी श्रेणीके ऊपरके गुणस्थानोंमें होगा। तो श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु महाराजके सर्वप्रकारके विकल्पोंका निरोध हो जाता, ऐसा ऊँचा ध्यान होता है। तो ऐसा उत्कृष्ट ध्यान होगा तब ही केवलज्ञान बनेगा। आजकल यद्यपि इतना ऊँचा ध्यान नहीं है, फिर भी आत्माका ध्यान जितना बन सके उतना कीजिए। देखिये—यह काम बहुत ऊँचा है, और यह काम केवल एक घंटेमें न हो जायगा अथवा कुछ वर्षमें न हो जायगा, जीवनभर यह कार्य करना होगा। तो करने योग्य कार्य भी यही है—आत्मध्यान करना। बाहरी बातोंसे अपनी उन्नति-अवनति न समझिये। अगर धन घट गया तो उससे इस आत्माकी कोई अवनति न मानें। मान लो धन कुछ कम हो गया, तो कम हो जानेसे हुआ क्या ? किसी दिन तो साराका सारा ही धन छोड़कर जाना होगा, अथवा धन अधिक बढ़ गया है तो उससे अपना लाभ न समझें कि मेरेको कुछ मिला है,

अरे कुछ भी नहीं मिला है, सब छोड़कर जाना है। तो बाह्य वैभवका लाभ हो जाय तो क्या कमी हो जाय तो क्या, दोनों बराबर चीजें हैं? मेरे आत्माको अगर सही रास्ता न मिले, यह जैनशासनका ज्ञान न मिले तो मेरी हानि है। और जितना धर्मका सुयोग मिल रहा वह तो मेरा लाभ है तो ऐसा निर्णय रख करके हमें आत्माके ज्ञानके लिए सारी जिन्दगी जुटानी है। थोड़ा समय नहीं लगाना है, बहुत समय लगाना है, और उसका सीधा उपाय है कि स्वाध्यायमें अधिक समय लगायें। देखिये—पौरुष किए बिना काम न बनेगा। तो इस जीवनमें दो-चार घंटे जो भी समय मिले उस समयका सदुपयोग स्वाध्यायमें करें तो इस पौरुषके फलमें आप पायेंगे कि हाँ हमने कुछ पाया। अब मनुष्य हुए, जैन कुलमें आये तो हमने कुछ प्राप्त किया, अन्यथा कुछ नहीं पाया। तो हर स्थितिमें चाहे गृहस्थ हों, चाहे साधु हों, आत्मस्वरूपका ध्यान ही वास्तवमें शरण है। तो ऐसे निर्णय वाला पुरुष जब साधुपदमें बढ़ता है तो श्रेणीमें यह महापुरुष समस्त विकल्पोंको त्यागकर आत्माका ही ध्यान किया करता है।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत् ॥७१२॥

अन्तर्दृष्टिके कारण गुरुवोंकी गुरुताकी अनायास सिद्धि—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध किया गया है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुको जो गुरुपना प्राप्त हुआ है वह अनायास ही हुआ है। देखो गुरुका अर्थ है बड़ा होना। बड़ा किस तरह कोई हो सकता है कि गुण तो बढ़ें और दोष घटें, तब ही बड़प्पन होगा। यदि किसीके दोष बढ़ रहे हैं और गुण घट रहे हैं तो वह बड़ा नहीं हो सकता है। बड़ा होनेकी यह ही तरकीब है। इस लोकमें भी बड़ा पुरुष वह माना जाता है जो रागद्वेष पक्षपात नहीं करता, उदारता; विवेक रखता है, और प्रजा लोग भी उसका बड़ा आदर करते हैं कि यह पुरुष घरमें रहता हुआ भी संत है, यह किसीका पक्षपात भी नहीं करता, इसके रागद्वेष नहीं है। लोग उससे न्याय कराते हैं, उसपर विश्वास रखते हैं। तो बड़ापन अथवा वास्तवमें वैभवके कारण नहीं बनता, किन्तु रागद्वेष न रहें और ज्ञान विवेक बढ़े उससे बड़ापन होता है। आत्माको ऐसा बड़ा होना चाहिए कि जैसा बड़ा होनेके बाद फिर छोटा न होना पड़े। अब लोकमें देखिये—मान लो कोई दुनियावी इज्जतमें बढ़ गया अथवा धन वैभवमें बढ़ गया या नेतागिरीमें बढ़ गया तो क्या उसका यह नियम है कि अब यह घटेगा नहीं? अरे इसी भवमें घट सकता है। और मरण होनेपर तो घट ही जायगा। न जाने किस गतिमें जाना होगा? तो यह कोई बड़प्पन नहीं है, और आत्मा में दोष न रहे, गुणोंका विकास हो तो यह बड़प्पन कहलायेगा, क्योंकि इस तरहकी महत्ता पानेके बाद यह जीव मरकर भी जन्म लेगा तो अच्छी गतियोंमें जन्म लेगा। तो सब लोग

बड़ा बनना चाहते हैं। बड़ा बनें तो इस तरह बड़ा बनें कि जिसके बाद फिर छोटे न हों। यह निमित्तनैमित्तिक भाव अटल है। हम कषायें रखते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक करते हैं तो उसके फलमें नियमसे दुर्गति होगी। हम कषायोंसे अलग होते हैं तो हमारी गति उत्तम होगी, ऐसा अटल नियम है। हमें बड़ा बनना है तो इस पद्धतिसे बड़ा बनना चाहिए कि हमें फिर उससे छोटा न बनना पड़े। 'पुराणोंमें सुना जाता है कि कुत्तासे मरकर देव बन जाता है और देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, पेड़ आदिक बनना पड़ता है। तो यह फर्क किस बातका आया ? जिसका जैसा भाव है उसका वैसा सुधार और बिगाड़ होता है। तो हमें दो बातोंकी कोशिश करनी है—एक तो किसी भी बाहरी पदार्थमें मोह न जगे, ये मेरे हैं, इनके बिना मेरा काम नहीं बन सकता, इनसे ही मेरा बड़प्पन है—इस भावको दूर कर दें, मेरा ज्ञान ही मेरे ज्ञानमें रहे और कषायें सब मंद हों, इसमें मेरा बड़प्पन है, बाहरी चीजोंके समागमसे मेरा बड़प्पन नहीं है। तो इन बाहरी पदार्थोंसे अपना बड़प्पन न मानें और अपना बड़प्पन अपने आत्मामें यह देखकर मानें कि मैं गुणोंमें कितना बढ़ सका हूं और मेरेमें रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें कितनी दूर हुई हैं ? यदि दोष दूर होता है तो अपना बड़प्पन है। इन साधु महाराजमें दोष नहीं रहे, इसीलिए इनमें गुरुपना है। तो ये आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये तीनों ही गुरु एक समान कहे गए हैं।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥७१३॥

अन्तर्दृष्टिके कारण आचार्यकी शाश्वत गुरुता—आचार्य परमेष्ठी स्वयं इतना ज्ञानी और विरक्त हैं कि उनके बाह्यक्रियायें व्रतच्युत होनेका कारण नहीं बनती हैं। वहाँ ऐसा नहीं है कि आचार्य महाराज पहिले छेदोपस्थापना चारित्रका पालन करें अथवा आचार्य पहिले आचार्यपदको छोड़ दें, पीछे साधुपदको धारण करें, ऐसा भी आवश्यक नहीं है। यद्यपि संन्यास मरणके लिए ऐसा किया जाता है। जब जाना कि आयुक्षयका अवसर आता है तो व्यवस्थाके लिए किसी अन्य मुनिको आचार्यपद देकर स्वयं साधुमात्र रहकर संन्यासमरण करते हैं। तो यह एक विशेष अवस्थामें विधि बन गई। सो यह विधि व्यवस्थाके लिए है। यदि कोई न दूसरेको आचार्य बना सके, स्वयं आचार्यपदका त्याग न कर सके और विशिष्ट शुक्लध्यानमें आ जाय तो उसके प्रतापसे वह क्षीणमोह हो जाता है, अरहंत हो जाता है। तो यह आवश्यक नहीं है कि आचार्य महाराज छेदोपस्थापना करके साधुपदको ही धारण करें। यह आशङ्का अन्तर्दृष्टिकी परख न करने वालेको हो सकती है। जिसको आचार्यकी निर्भयता और निरोगताका परिचय है वे आशङ्का नहीं कर सकते। यह बात पहिले भली-भाँति कही जा चुकी है कि आचार्यकी बाह्यक्रियायें दोष उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। जिस कारण कि

उनको छेदोपस्थापना चारित्र धारण करना पड़े और आचार्यपद छोड़कर साधुपदको ग्रहण करना पड़े। उनका अन्तरङ्ग तो साधुके ही समान है। अंतः क्रियायें सभी साधुवोंकी समान ही चलती हैं। केवल बाह्य क्रियावोंका भेद है। तो यह भेद अन्तरङ्गमें भेद डालनेमें समर्थ नहीं है। यों आचार्य महाराजका साधुपना अनायास ही शुद्ध है। वहाँ बाह्य पदार्थोंका नाम लेकर कोई शङ्का करनी ठीक नहीं है।

उक्त दिङ्मात्रमत्रापि प्रसाङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥७१४॥

गुरुस्वरूपके संक्षिप्त वर्णनका उपसंहार—यहाँ प्रकरण चल रहा है कि गुरुत्वका वर्णन करनेका तो प्रसंग पाकर यहाँ गुरुका लक्षण दिखाया गया है। सो ये कुछ थोड़ीसी बातें कही गयी हैं। इन कुछ बातोंको ही निरख करके गुरुवोंके अन्तःशुद्धिकी बात समझ लेनी चाहिए। शेष गुरुवोंके स्वरूपकी बात आगे विशेषरूपसे कही जायगी, जैसा कि जैन आगममें कहा है। यहाँ संक्षेपमें इतना ही जान लेना चाहिए कि गुरु निर्ग्रन्थ और दिगम्बर होते हैं। उनमें गुरु तो अरहंत भगवानको कहा गया है। उनके बादमें कोई गुरु हो सकता है तो जैसे अरहंत भगवानका चिह्न है बाह्य शरीर वैसे ही लिङ्ग अर्थात् जिनलिङ्ग धारण करने वाले महात्मा गुरु कहलाते हैं। ये विषयोंसे निष्प्रह होते हैं, इनकी लौकिक कोई कामना नहीं रहती है। केवल यह भावना रहती है कि ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमें उपयोग मग्न हो जाय जिससे यथार्थता निजमें प्रकट हो। ऐसी ही मात्र जो धुन रख रहे हों ज्ञानस्वरूपकी, ऐसे पुरुष गुरु कहलाते हैं।

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जावो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥७१५॥

अमूढ़दृष्टि अङ्गके वर्णनमें वर्णित धर्मके स्वरूपकी निरुक्ति—प्रकरण चल रहा है अमूढ़दृष्टि अङ्गका। देवमें देवबुद्धि करना, अधर्ममें धर्मबुद्धि करना, कुगुरुमें गुरुबुद्धि करना सो मूढ़दृष्टि कहलाता है। ऐसी मूढ़दृष्टि जहाँ न हो सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है। तो इन तीन बातोंमें दो प्रसङ्गोंका वर्णन किया जा चुका कि गुरु कौन होता, कुगुरु कौन होता तथा देव कौन होता, कुदेव कौन होता? अब यहाँ धर्मके सम्बंधमें कुछ वर्णन चलेगा। धर्म क्या चीज है और अधर्म क्या चीज है? इसका संक्षेपमें वर्णन किया जा चुका था, उसीके सम्बंधमें पुनः वर्णन किया जा रहा है कि धर्म वह कहलाता है कि जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचेके स्थानसे हटाकर उच्च स्थानमें पहुंचा दे। धर्मकी व्याख्या धरण धातुके अनुसार की गई है। जो उत्तम पदमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। धरति इति धर्मः—नीच पदसे उठाकर उच्च पदमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। तो नीचपद है संसार, चतुर्गतिभ्रमण और उच्च पद है

मोक्ष। मोक्ष क्यों उच्च स्थान है कि वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त-आनन्द प्रकट है। जिससे उत्कृष्ट और कोई ज्ञान आनन्द आदिक नहीं होते हैं। साथ ही वहाँ दोषोंको उत्पन्न करने वाले कर्म ही नहीं रहे, शरीर न रहा, ऐसा जो पवित्र स्थान है वह है मोक्ष, और नीच स्थान है यह समस्त संसार, जहाँ आवागमन रहता है। जो संसारके पदोंसे हटाकर मोक्षपदमें पहुंचा देता है उसको धर्म कहा गया है। तो ऐसे धर्मका ही धर्मोपदेश करना सो तो अमूढ़दृष्टि है और धर्मके इस पदसे हटकर नाना रागद्वेषादिकमय भावोंमें धर्मबुद्धि करना सो धर्म कहलाता है। सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग जिसके प्रकट हुआ है अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है वहाँ कभी भी अधर्ममें धर्मरूपसे बुद्धि नहीं हुआ करती। जो रागद्वेषादिक भाव हैं वे अधर्म हैं, उनको करते हुए धर्म माननेका स्वप्नमें भी ख्याल नहीं होता।

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥७१६॥

धर्मकी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता—उक्त श्लोकमें निरुक्तिके अनुसार धर्मकी व्याख्या की गई थी कि जो नीचपदोंसे हटाकर उत्तम पदमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। जिसको समन्तभद्राचार्यने भी इन शब्दोंमें कहा है कि जो संसारके दुःखोंसे हटाकर जीवोंको उत्तम सुखमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। इस निरुक्तिके अनुसार धर्मकी यह विशेषता जानी गयी कि जीवका कोई शरण है तो धर्म ही है। धर्मभाव ही नीचपदसे हटाकर उच्च पदमें पहुंचा देता है, जहाँ फिर शाश्वत आनन्द रहता है। उस पदसे फिर कभी डिगना नहीं होता है। अनन्तकालके लिए आत्मा मुक्त शुद्ध पवित्र बना रहा करता है, ऐसा धर्म है क्या? उस धर्मका विशेष स्वरूप कहा जा रहा है। धर्म है सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रात्मक। याने जहाँ आत्मामें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रकट हो वही आत्मा धर्मस्वरूप है। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय भावको धर्म कहते हैं। इन तीनों भावोंमें सम्यग्दर्शन भाव आधारभूत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं होता। सम्यग्दर्शन कहते हैं जीवादिक प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना, देहसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्वका आत्मारूपसे श्रद्धान करना, कषायोंसे निराला जो ज्ञानमात्र सहजस्वरूप है उसका अनुभव पा लेना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस सम्यग्दर्शनके होते ही जो ज्ञान बना हुआ था पहिले वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे पहिले जो ज्ञान हुआ करता है वह भी वस्तुके स्वरूपके अनुरूप होता है, लेकिन जहाँ वस्तुके आत्मतत्त्वके सहजस्व-रूपका अनुभव नहीं होता तो उस ज्ञानमें श्रद्धारूप दृढ़ता नहीं रहती, इस कारण उसे सम्य-

ज्ञान नहीं कहा गया। सम्यग्दर्शनके होते ही उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। तो सम्यग्ज्ञानका मूल कारण सम्यग्दर्शन होता, इसी कारण सम्यक्त्वके होनेपर ही तो आचार-विचार हैं वे सम्यक् हो जाते हैं। तो यों सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका आधारभूत मूल कारण सम्यग्दर्शन कहा गया है।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सद्दक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥७१७॥

सम्यक्त्वपूर्वक होने वाले धर्मकी प्रवृत्तिमें द्विविधता—सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् जीवकी जो धर्मवृत्तिमें उन्नति होती है तो वह धर्म जिस धर्ममें यह सम्यग्दृष्टि चलता है वह दो प्रकारका होता है—(१) सागाररूप और (२) अनागाररूप। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। ये दोनों ही धर्म सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं। सम्यग्दर्शन न हुआ हो तो न गृहस्थका धर्म-धर्म कहलायेगा, न मुनिका धर्म-धर्म कहलायेगा, केवल एक बाहरी भेष, बाहरी प्रवृत्ति ही कहलायेगी। तो सम्यग्दर्शन वृत्तिका आधारभूत है। सम्यक्त्व होनेसे यदि चारित्रमोहका ऐसा उदय है कि वह पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकता है तो वह अणुव्रतोंमें ही रहकर परिणमना होगा, उसे सागारधर्म कहते हैं। सागार मायने आगारसहित। गृहस्थ घर नहीं छोड़ सकते। उनका जो धर्म है वह सागारधर्म कहलाता है। जिन जीवोंके सम्यक्त्व तो उत्पन्न हो गया, पर पंचपापोंका पूर्णरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। शरीरका संघनन या सामर्थ्य या कषायोंका उदय इतना चल रहा है कि वह महाव्रत नहीं ले सकता है तो अणुव्रत लेकर हिंसा आदिकका एक देश त्याग करके और शेष रहे पापोंकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न बढ़ाता है उसे कहते हैं सागारधर्म। और जहाँ सागार नहीं रहा, घर नहीं रहा अर्थात् वैभव, घर, परिजन आदिक सभीका त्याग कर दिया गया और अन्तरङ्गमें कषायरूप परिग्रहका त्याग कर दिया उसे कहते हैं अनागार। ऐसे अनागार पुरुषका जो चारित्र है उसका नाम है अनागार धर्म। दोनों ही धर्मोंमें सम्यग्दर्शनका प्रकाश बना हुआ है, जिसके कारण गृहस्थ तो कुछ देर बाद जब आत्माकी अनुभूति कर रहा है और मुनिजन क्षण-क्षणमें आत्माका अनुभव किया करते हैं। इस तरह सम्यग्दर्शनपूर्वक सागारधर्म और अनागार धर्म होता है।

रूढ़ितोधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥७१८॥

वचन और कायकी शुभक्रियाओंकी रूढ़िसे धर्मरूपता—शरीर और वचनकी शुभ-क्रियायें रूढ़िसे धर्म कहलाती हैं। चूँकि जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा सागार अथवा अनागार पुरुष भी रागभावके रहनेपर शरीरसे शुभ क्रियायें करता है, वचनकी भी शुभ क्रियायें होती हैं। तो ऐसी शुभक्रियायें ज्ञानी जीवोंके देखी जा रही हैं तो लोगोंने यह अर्थ

बना लिया कि शुभक्रियायें करना धर्म कहलाता है, तो यह अर्थ रूढ़िवश हुआ है। तो रहा धर्म यह भी धर्म कहलाता है कि वचन और कायकी शुभक्रियायें होना, दयामें तत्पर होना, हिंसा आदिक पापोंको टालने वाली होना, इस तरहकी शुभक्रियायें धर्म हैं, क्योंकि क्रियावों के साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिए अर्थात् शुभ मनपूर्वक की जाने वाली वचन और कायकी क्रियायें धर्म कहलाती हैं अर्थात् मनसे अच्छा विचार चलता हो, दया सम्बंधी निष्पाप अर्थात् आत्मस्वरूप सम्बंधी विचार चल रहा हो, वचनसे धर्मकी बात कही जा रही हो, शरीरसे अहिंसामयी चेष्टा की जा रही हो तो ये सब शुभक्रियायें धर्म कहलाती हैं।

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥७१६॥

सागार व अनागार ज्ञानियोंके क्रियाविशेषकी अपेक्षासे धर्मकी विशेषितता—उक्त श्लोकमें बताया गया है कि मन, वचन, कायकी शुभक्रियावोंको धर्म कहते हैं। तो ये बाह्य-क्रियायें दो प्रकारकी हो गयीं—सागार पुरुषकी शुभक्रियायें और अनागार पुरुषकी शुभ-क्रियायें। तो ऐसी उन शुभक्रियावोंकी विशेषताके कारण धर्म भी दो प्रकारके कहे गए हैं, यहाँ धर्मकी व्याख्या मिश्र व्याख्या है। जहाँ शुद्ध हैं मन, वचन, काय जहाँ प्रशस्त हैं, सर-लता जहाँ आ रही है, ऐसी स्थितिमें जो क्रिया होती है वह धर्म कहलाती है, जिसे ५ महा-व्रतरूप, ५ समिति रूप बता सकते हैं। गृहस्थजनोंके अणुव्रत रूप, दिग्व्रतरूप और शिक्षाव्रत रूप कह सकते हैं। ये सब क्रियायें भी मुनि और गृहस्थके भेदसे दो-दो प्रकारकी बन गई हैं।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरति प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥७२०॥

सागारधर्ममें पापोंसे एकदेशविरति—उक्त श्लोकमें दो प्रकारकी क्रियावोंको धर्म कहा गया है। तो उसका विशेष स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया है कि गृहस्थकी शुभक्रियायें कौनसी हैं? जिसको कि गृहस्थधर्म कहा गया है वह है गृहस्थोंका अणुव्रत। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पापोंसे एकदेश विरक्त हो जानेका नाम है अणुव्रत। जैसे जो घरमें रह रहा है उसका व्यापार किए बिना काम न चलेगा। घरमें आरम्भ किए बिना, भोजन आदिक बनाये बिना काम न चलेगा। तब त्रस जीवोंकी हिंसाका तो त्याग रहता है, किन्तु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं हो पाता अथवा गृहस्थ पुरुष संकल्पी हिंसाका त्याग नहीं कर पाता है। आरम्भी, उद्यमी और विरोधी हिंसाका त्याग करनेमें असमर्थ रहता है। ऐसी स्थितिमें उसके हिंसाका त्याग एकदेश त्याग कहलायेगा। ऐसी हिंसाका एकदेश त्यागका नाम है अहिंसाणुव्रत। सत्याणुव्रतमें गृहस्थने असत्य वचनोंका परिहार किया, लेकिन व्यापारसम्बन्धो या अन्य लौकिक व्यापारसम्बन्धी वचनोंको तो वह बोलेगा। तो उन वचनों

का भी वह बोलेगा, सत्यरूपसे कहेगा, लेकिन आत्मतत्त्वका उनसे सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से वह असत्य कहलाता है तथा ऐसा असत्य नहीं बोल सकता है कि जिससे दूसरेको पीड़ा पहुंचे अथवा न्यायके विरुद्ध बात जाय। जहाँ ऐसा सत्य भी बोलना नहीं बताया गया कि जिसमें दूसरेके प्राण जायें, ऐसी अनेक बातें, अनेक विकल्प वहाँ रहते हैं, इस कारण उनके सत्यका व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसी प्रकार चोरीका भी एक देशरूपसे उनके त्याग रहता है। मिट्टी, पानी आदिक अनेक जो सर्वसाधारण चीजें हैं उनको बिना पूछे ही तो लेते हैं, जो विपरीत क्रियायें हैं, इसी प्रकार अन्य भी क्रियायें होती हैं। इन सब बातोंको निरख करके यह कहा जायगा कि गृहस्थके चोरीका एकदेश त्याग रहता है। यह हुआ गृहस्थका अचौर्याणुव्रत। गृहस्थजन स्त्रीमात्रका परित्याग नहीं कर पाते हैं, तब अपनी पारिणीत स्त्रीमें ही सन्तोष करके शेष समस्त स्त्रियोंका विकल्प दूर कर देते हैं, इस कारण उनके यह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा गया है। परिग्रहका सर्वथा त्याग करके गृहस्थ कैसे रह सकेगा ? जब भोजन, आरम्भ अथवा व्रतपालन आदिक सब कुछ करना पड़ रहा है तो परिग्रहकी आवश्यकता तो रहती ही है। इस स्थितिमें वह सम्यग्दृष्टि जीव परिग्रहका परिमाण कर लेता है। मेरा इतने परिग्रहसे गुजारा चल जायगा, इसके अतिरिक्त शेष परिग्रहोंका मेरे त्याग है। इस तरह परिग्रहका परिमाण करके शेष परिग्रहोंसे सर्वथा विरक्ति कर लेना, यह गृहस्थका धर्म हो जाता है, तो इस व्रतको कहते हैं परिग्रहपरिमाणव्रत। इस प्रकार ५ पापोंसे एक देश विरक्त हो जानेका नाम है अणुव्रत। यही है गृहस्थका धर्म।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥७२१॥

अनागारधर्ममें पापोंसे सर्वविरति—हिंसा आदिक ५ पापोंका सर्वरूपसे त्याग कर देनेका नाम है महाव्रत। जिसने केवल आत्मकल्याणकी ठान ली, जिसके अब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायें नहीं रहीं, परिजनोंसे अत्यन्त विरक्ति हो गई है, आत्माका अनन्य शरण स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन है, ऐसी जिसकी धुन बन गई है, ऐसा महापुरुष केवल आत्महितके लिए अपना जीवन मानता है, तब वह सर्व वैभवोंका परित्याग कर देता है, शरीर मात्र ही उनका परिग्रह रह जाता है। उनमें इतनी विरक्ति होती है कि इस शरीरको भी वे अलग कर सकते थे अर्थात् शरीरकी भी उपेक्षा कर जायें, आहार आदिक न करें, ऐसी उनके अत्यन्त विरक्ति है, लेकिन विवेक उनको चेताता है कि ऐसे असमयमें शरीरका परित्याग कर देना कल्याणकारी न होगा। इस भवमें संयमकी साधना करके ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको संयत बनानेका बराबर अवसर दे करके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा कर लेनी चाहिये, इस प्रकारका विवेक जगता है जिसके कारण वे यथासमय आहार आदिक चर्याविधि करते

हैं। तो यों अतिविरक्त साधुजनोंका केवल एक ही उपयोग रहता है—आत्महित करना, ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको मग्न कर देना। तो इस तरहके उद्देश्य वाले साधुजनोंको हिसा आदिक ५ प्रकारके पापोंसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है। स्थावर जीवोंकी भी हिंसा नहीं करते, भोजन आदिकका आरम्भ नहीं करते, इस तरह उनके अहिंसा महाव्रत है और आत्मतत्वकी ही धुन है, अन्य बातें वे किया ही नहीं करते हैं। यों यथार्थ बातोंका प्रयोग होनेसे सत्य महाव्रत है, चोरीका पूर्णरूपसे त्याग है। किसी चीजके संचयका अब उनके काम ही नहीं रहा है। तो साधारण वस्तुवोंका भी संग्रह करनेका भाव उनके नहीं होता। स्त्री मात्रका त्याग हो जानेसे उनके ब्रह्मचर्य महाव्रत कहा गया है। लेकिन परिग्रहका पूर्णरूपसे त्याग हो गया है, वस्त्र मात्र भी नहीं रखा है। केवल शुद्धिके लिए उपकरण कमण्डल और जीवदयाका उपकरण पिच्छिका और ज्ञानका उपकरण एक दो शास्त्र ही उनके पास रहते हैं। सो उनमें भी उनके रागबुद्धि नहीं है, इस संयमकी साधना करनेका वे उपकरण मात्र मानते हैं। इस तरह सर्व पापोंका त्याग करने वाले ये साधु महाराज महाव्रती होते हैं। यों महाव्रत नामका अनगारों का धर्म कहा गया है।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेप्यतः ॥७२२॥

धर्मात्मावोंका मौलिक ज्ञान—आत्माकी शान्ति चाहने वाले जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं। सम्यग्दर्शनका अर्थ यह है कि जैसा मेरे आत्माका सहजस्वरूप है उसरूप अपना अनुभव हो जाना। लोकमें प्राणी अपनेको इस तरह मान रहे हैं कि मैं नारकी हूं, तिर्यञ्च हूं, मनुष्य हूं, अमुक कुल वाला हूं, ऐसे परिवार वाला हूं, इस घरका मालिक हूं, इतने वैभवका स्वामी हूं.....। जो जीव जिस गतिमें जाता है उस गतिमें जो उन्हें स्थितियाँ मिली हैं उसरूप अपनेको मान लेते हैं। तो यह उनकी मान्यता अशान्तिका कारण बनती है। क्योंकि परको अपना मान लेनेमें अशान्ति ही है। जिसपर अपना राग करनेका अधिकार ही नहीं है, उसपर राग बनाया तो उसका फल अशान्ति है। बाह्य पदार्थ सब मुझसे अत्यंत निराले हैं। उनका ज्ञातादृष्टा रहना चाहिए था, यह है हमारे ज्ञानमें किया गया। तो अस्तित्व मात्र ज्ञानमें आये उससे कोई अड़चन नहीं है, पर जब जीव यों मान लेते हैं कि यह मेरा है, मेरा शरीर है, मेरा जीवन है तब बाह्यपदार्थोंमें आत्मरूपसे श्रद्धा कर लेते हैं तब उन्हें आकुलता होती है, किन्तु आकुलता होनेके कारण तो लोग बाह्यमें, यह मेरा है अब है नहीं मेरा, वे भिन्न हैं, उनका परिणमन उनके अनुसार होगा। यहाँ यह सोचकर कि अरे मेरा है, मैं यों नहीं कर पा रहा हूं, जो मैं चाहता हूं वैसा ही होना चाहिए था, ऐसा विकल्प होता है, उससे अशान्ति होती है। तब शान्ति कहाँसे प्रकट हो? जब निजको निज परको पर जानें। यह

बात आ जायगी कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, मेरा देह भी मेरा नहीं है तो स्त्री पुत्र मित्रादिक मेरे क्या होंगे ? घर, वैभव आदिक मेरे क्या होंगे ? जब इस तरहका भान होता है तो इसको शान्तिका मार्ग मिलता है । तो जैसा आत्माका सहजस्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिर्मय, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, सर्वसे अपरिचित है, इस मुझको यहाँ कोई जानने वाला नहीं । लोग प्रशंसा करें तो मेरेको क्या, निन्दा करें तो मेरेको क्या ? मैं तो सबसे अपरिचित हूं, मैं अपने ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान रखूं तो मेरे लिए सर्व वैभव मिला हुआ है और अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोंमें अपनी गणना बनाऊँ तो मेरेको अशान्ति है । जिन पुरुषोंको सम्यग्ज्ञान हो गया है तो सम्यग्ज्ञानका मार्ग समझ लिया कि हम इस रास्तेसे चलेंगे तो शांति मिलेगी । कौनसे रास्तेसे ? जहाँ मोह न हो, रागद्वेष न उपजे, केवल अपने आपके स्वरूपका जाननहार रहे, इस रीतिसे मैं अपने उपयोगको ले जाऊँ, तो धर्म है, तो शान्ति है । जहाँ इस आत्मदृष्टिसे चिगे और बाहरी पदार्थोंको माना कि ये मेरे हैं, इनके परिचयसे ही मेरा महत्त्व है, बस वहाँ अशान्ति पैदा हो गई ।

सत्संगतिका कर्तव्य—दुनियामें प्रायः जितने लोग मिलते हैं वे सब मोहके साथी हैं । मोहवान हैं. तब उनके बीच बैठनेपर, उनकी अधिक बातें सुननेपर इस जीवको इस श्रद्धामें जो दृढ़ता आती है कि मेरा बड़प्पन तो तब है जब हमारे पास लाखोंका वैभव हो जाय, हम करोड़पति हो जायें या दुनियामें मेरा नाम छा जाय, मैं सबमें अग्रगण्य माना जाऊँ, ऐसी मनमें वासना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मोहियोंको कभी विरक्त पुरुषोंका संग मिले, उनकी वाणी मिले और ऐसी वाणी प्रायः रोज मिले अथवा विरक्त पुरुष न मिलें तो उनके द्वारा रचित जो शास्त्र हैं वे भी विरक्त पुरुष ही हैं । उन शास्त्रोंका स्वाध्याय रोज करें, एक-दो घंटे रोज यदि उपयोग कुछ वैराग्यमें और वस्तुके सही स्वरूपकी बातमें जमे इस जीवको कुछ सावधानी रहे । अब स्वाध्यायके रूपसे भी गुरुओंका सत्संग मिल रहा अथवा साक्षात् गुरुवोंका सत्संग मिल रहा तो ऐसी स्थितिमें यह मनबन्दर बहुत चंचलता कर देता है, बाहरी पदार्थोंमें अपना सार समझता है । फल यह होता है कि आकुलता बढ़ती है । तब जानना चाहिए कि हमें धर्म मिलेगा तो सम्यग्दर्शनसे मिलेगा । सम्यक्त्व हुए बिना धर्म नहीं होता ।

गृहस्थोंके मूलोत्तर गुणोंका एकदेश पालन—जिन जीवोंको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया, उन जीवोंकी अब फिर आगे क्या गति होती है, उसका यह प्रकरण चल रहा है । ऐसा पुरुष यदि सर्वपापोंका परित्याग कर सकता है तो वह मुनि हो जाता है और सर्वपापोंका पूर्णरूप से परित्याग करनेमें तब वह समर्थ रहता है । वहाँ यदि संयमावरण कषायका उदय रहता है तो वह गृहस्थीमें ही रहकर व्रतपालन करता है । सो कोई पुरुष यदि विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, उसको आत्मस्वरूपका सच्चा भान हो गया है तो योग्य रीतिसे अगर गृहस्थधर्मका भी

पालन करे तो उसे शान्ति मिल जायगी। तो गृहस्थधर्ममें क्या करना होता है ? उसके सम्बंध में बतला रहे हैं कि गृहस्थ जीवोंके एक देशरूपसे मूल गुण और उत्तर गुण हुआ करते हैं। मूल गुण क्या है ? पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग, मद्य, मांस, मधुका त्याग। जिस जीवके सम्यक्त्व हुआ है वह जीव मद्य, मांस, मधुका कैसे सेवन करेगा ? वह जान रहा है कि इसमें अनेक त्रस जीव होते हैं तो क्या वह त्रस जीवोंका भक्षण करेगा ? पञ्च उदम्बर फलोंमें भी त्रस जीव होते हैं। शराब आदिक सड़ाकर बनाये जाते हैं तो इनमें जीव होते हैं, यह तो सभी लोग जानते हैं, साथ ही शराब बेहोशी पैदा करती है। जहाँ विवेक नष्ट हो जाय, ऐसी दशा ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता। मांस तो जीवके घातसे ही उत्पन्न होता है और मधु भी अनेक मक्खियोंके नाशसे उत्पन्न होता रहता है और उसमें निरन्तर अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो मद्य, मांस, मधुका सेवन भी कोई गृहस्थ नहीं रख सकता है। जो नाम मात्रका भी जैन हो गया वह मद्य, मांस, मधु और पञ्च उदम्बर फलका भक्षण नहीं कर सकता। ये उदम्बर फल बिना फूलके काठसे स्वयं फल उत्पन्न होते हैं। इनके पोड़नेपर देखा होगा कि उसमेंसे अनेक जीव निकलते हैं, कुछ उड़ने वाले जीव भी निकलते हैं। तो जिसमें त्रस जीवों का घात हो, ऐसे पदार्थ सम्यग्दृष्टि जीव नहीं खा सकता। तो यह तो है गृहस्थका मूल गुण पालन और उत्तर गुण है—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रतका पालन। इनका वर्णन प्रसंगानुसार आयगा। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जिसने अपने आत्माकी सुध लिया है और पापोंका सर्वदेश त्याग नहीं कर सका है वह गृहस्थीमें रहकर गृहस्थधर्मका पालन करता है। अब गृहस्थोंको सोचना चाहिए कि हम गृहस्थ हैं, व्यापारादिक करते हैं, घरका काम चलाते हैं तो ऐसे आरम्भ परिग्रहमें रहते हुए हम गृहस्थ किस तरहसे इन पापोंसे मुक्त हो सकें ? और देखिये—घर भी बना है, परिजन भी बने हैं, उनमें रहना बन रहा है, दूकान भी चल रही है, सब कुछ होते हुए भी एक अपने आपके आत्माकी यदि सम्हाल न की, बाहर की बातोंमें ही उपयोग बना रहा तो गृहस्थधर्मका निभाना न कहलायेगा। वह तो उस तरह से समझिये जैसे कि भिखारी लोग भीख मांगकर, डाकू लोग डाका डालकर, चोर लोग चोरी करके अपना पेट भरते हैं। यद्यपि लौकिक हिसाबसे उनमें बहुत अन्तर है, उनके तो सीधा पापकी आय हो रही है। यहाँ लोगोंको कोई बाधा न पहुंचाकर आय हो रही है, लेकिन आय ही तो हुई, और उससे विषयसेवन किया, उससे गृहस्थने लाभ क्या उठाया ? लाभ तो गृहस्थ का यह था कि अरहंत सिद्ध स्वरूपका स्मरण रहता, उनकी भक्तिमें कुछ समय जाता, अपने आपके आत्माके स्वरूपकी कुछ सुध रहती, बाह्यपदार्थोंसे मोह हटता, इनमें आसक्ति न होती, कुछ ज्ञानप्रकाश रहता और फिर गृहस्थीमें ये सारे काम होते तो वह गृहस्थधर्म कहलाता है। केवल कमायी और विषयोंका साधन बनाया, विषयभोगमें, मौजमें रहे तो इससे गृहस्थधर्म

नहीं कहलाता । यह तो संसारी जीवोंकी मोहकी प्रणाली है ।

साधुवोंके मूलोत्तरगुणोंका सर्वदेशपालन—गृहस्थधर्ममें मूल गुण और उत्तरगुणका होना बताया गया है । होता है वह एक देशका, पूर्णतया पापका त्याग नहीं होता, किन्तु मुनीश्वरोंके पूर्णरूपसे मूल गुण और उत्तर गुण हुआ करते हैं और साधुवोंके मूल गुण २८ बताये गए हैं जैसे—५ महाव्रतोंका पालन करना, ५ समितिके अनुसार प्रवृत्ति करना, ३ समितियोंका पालन होना, पञ्चेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना, मनपर विजय प्राप्त करना, ६ आवश्यक कार्योंका करना और वस्त्रत्याग होना, जमीनपर सोना, उठना-बैठना, केशलोंच करना, एक बार दिनमें खड़े होकर आहार लेना, शुद्ध विधिसे अन्तरायरहित मिले तो आहार लेना, न मिले तो भी तृप्त रहना, स्नान न करना आदिक जो मुनियोंके योग्य गुण बताये गए हैं वे पूरी तौरसे मुनिजन पालन करते हैं तथा परीषह उपसर्ग आदिकपर विजय प्राप्त करना आदि ऐसे उत्तर गुणोंका भी पालन करते हैं । तो जिस जीवने शान्तिका मार्ग जान लिया कि मेरा तो शान्तिका मार्ग रागद्वेष मोहसे रहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना है । तो इस मार्गमें बढ़नेके लिए वह क्या प्रयत्न करता है बाहरमें, यह बात कही जा रही है ।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे ।।७२३।।

गृहस्थोंके आठ मूलगुण—जो गृहस्थ व्रतधारी पुरुष हैं उनके ८ मूल गुण होते हैं । श्रावकोंमें गृहस्थोंमें दो प्रकारके भेद प्रसिद्ध हैं—(१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक । जो प्रतिमारूपसे व्रतपालन नहीं कर सकते, फिर भी आचरण उनका स्वभावतः शुद्ध रहता हो तो वे पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं । जो प्रतिमारूपसे व्रत धारण करें तो वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं । जैन कुलमें उत्पन्न होने वाले पुरुषोंके ऐसा स्वभावतः आचरण होता है । मद्य, मांस, मधुका सेवन न करना, पञ्च उदम्बर फलोंका सेवन न करना । यदि कोई पुरुष इन ८ अभक्ष्य चीजोंका सेवन करता है तो उसे नाम मात्रसे भी श्रावक नहीं कहा जा सकता । इसके अति-रिक्त तीन मुख्य गुण बताये गए हैं—मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्याग । जिसको और स्पष्टरूपसे बताया गया है । देवदर्शन करना, जल छानकर पीना । रात्रिको भोजन न करना, इतनी बातें यदि नहीं रहती हैं तो कहा जा सकता है कि वह नामका भी श्रावक है । आजकल इसकी अवहेलना बहुत होने लगी है । जैसे रात्रिको भोजन करने लगना, अट-पटा भी उन्हें नहीं मालूम होता कि मैं क्यों अयोग्य आचरण कर रहा हूं, क्यों रात्रिमें खा रहा हूं, मगर रात्रिके खानेमें प्रथम तो एक निशाचर जैसी वृत्ति हो जाती है । दिन है, सूर्य के प्रकाशमें जीवरहित स्थान हो जाते हैं, देख-भालकर भोजन किया जा सकता है । रात्रिमें यदि प्रकाश किया जाय तो उस प्रकाशके सहारे और भी अधिक जीव-जन्तु आते हैं, जब कि

दिनके प्रकाशमें यह विशेषता है कि जीव-जन्तु नहीं रहते। देखा होगा मच्छरोंकी बाधा दिन में नहीं होती है, पर रात्रिमें देखिये कितने मच्छर आने लगते हैं? न जाने दिनमें वे मच्छर कहाँ चले जाते हैं। तो दिनके प्रकाशमें एक ऐसी विशेषता है कि जीव-जन्तु नहीं होते जब कि रात्रिके प्रकाशमें यह विशेषता है कि कहीं भी जीव-जन्तु हों तो भी वे वहाँ आ जाते हैं। तो रात्रिके भोजनमें हिंसाका दोष है। दूसरे—कुछ चित्तमें इस तरहका प्रमाद जग जाता है कि धर्ममार्गमें बढ़नेकी बुद्धि नहीं रहती है। तो ये मोटे जो जैन श्रावकोंके चिन्ह हैं उनसे तो न गिरना चाहिए, और इन मूल गुणोंका पालन करेगा कोई तो उसमें श्रद्धा है धर्मके प्रति, देवके प्रति, जिनवाणीके प्रति उस श्रद्धासे उनको पुण्यबन्ध भी होता रहता है। लोग प्रायः पुण्यके उदयमें फिसल जाते हैं। बड़े जब साधन होते हैं, बड़ी जब धन सम्पदा प्राप्त होती है, बड़ा जब मौज होता है तो समझ लेते हैं कि हम तो सब जीवोंसे अधिक अच्छे हैं। मेरेको अब करना क्या है? धर्मसे जो चाहिए था सो मिल गया। अब धर्म करनेकी जरूरत क्या है? ऐसा चिन्तन करके धर्मसे फिसलना अधिक हो जाता, लेकिन जो पुण्यशाली पुरुष हैं वे भी बने रहें, उसका साधन है शुद्ध आचरणसे चलना। तो जिनवाणीके प्रति, देव, गुरु के प्रति श्रद्धा बनाये रहना, उस भावसे अपूर्व पुण्यका बन्ध होता है, जिससे पुण्यकी रक्षा होती है, किन्तु समझ यह रखनी चाहिए कि मेरे लिए न पुण्य हितकारी है और न पाप। पुण्य हुआ, देव बन गए, इन्द्र बन गए, राजा हो गए, सेठ हो गए और क्या होगा पुण्यमें? ये चित्तको डिगाने वाली, आत्माको बेसुध कराने वाली कुछ बाहरी चीजें मिल जायेंगी तो इससे आत्माका लाभ क्या हुआ? बल्कि अनर्थ ही हुआ। उन बाह्य पदार्थोंमें लगे रहे, अपनी सुध न रखी तो इसमें जीवका अहित ही हो गया। तो पुण्य मेरे लिए लाभदायी नहीं है। और पाप तो मेरे लिए लाभदायी है ही नहीं। तब पुण्य, पाप दोनोंसे रहित होकर एक शुद्ध जो आत्माका ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपमें उपयोग लगाना चाहिए। इतनी बात जब नहीं बनती तो पुण्य करना भला है। उससे कुछ उत्तम साधन तो मिलेंगे, धर्मका वातावरण तो मिलेगा, कुछ चेतनेके साधन तो मिलेंगे। तो पुण्यकार्य करें, मगर श्रद्धा यह रखें कि संसारमें जन्म मरण ही बड़ी विपदा है, यह ही महान कष्ट है और जन्म मरणका कष्ट तब ही छूट सकता जब यह जीव पुण्य, पाप दोनों भावोंसे रहित होकर शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रह सके। तो ऐसा विवेक रखने वाले गृहस्थजनोंके ८ मूल गुण तो हुआ ही करते हैं और ये ८ मूल गुण तो साधारण आचरण हैं, व्रतियोंके भी होते हैं और अव्रतियोंके भी। जो नाममात्रका भी श्रावक है, जैन हो तो भी इन ८ मूल गुणोंका पालन करता है। इस कारणसे इन मूल गुणों को सर्व साधारण समझना चाहिए। हाँ अन्तर यह हो जायगा कि जो व्रती पुरुष है उसके तो निरतिचार मूल गुण होगा और अव्रती पुरुषके मूल गुणमें कदाचित् दोष लगते रहेंगे, पर

८ मूल गुण नाममात्रके जैनके भी हुआ करते हैं ।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥७२४॥

आठ मूल गुणोंसे रहित मनुष्यके व्रत व सम्यक्त्वकी असंभवता—गृहस्थजनोंके जो ८ मूल गुण कहे गए हैं, ये किन्हींमें तो स्वभावतः पाये जाते हैं और किन्हीके त्याग कराकर पाये जाते हैं । अब समझ लीजिए जो जैन आम्नायमें उत्पन्न हुआ है, जिसके माता-पिता जैन हैं, उस कुलमें जन्म लिया है, उनके तो यह स्वभावतः ही होना चाहिए 'और वहाँ यह विधि भी प्रचलित है कि जब तक बच्चा ८ वर्षका नहीं होता तब तक माता-पितापर जिम्मेदारी है कि वे उस बालकको मद्य, मांस, मधु आदिक पञ्च उदम्बर फलोंका सेवन न करने दें, क्योंकि वह अभी अबोध बालक है । ८ वर्षकी उम्रमें बच्चेको गृहस्थधर्मकी दीक्षा दिलायी जाती है । उस समय उसको मद्य, मांस, मधु और पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग कराया जाता है । अब वह बच्चा समझदार हो गया । उसने समझ लिया कि इसमें त्रस जीव रहते हैं, इनके भक्षणसे महादोष हुआ करता है तो फिर वह उसे नहीं खाता । तो यों जैनकुलमें उत्पन्न हुआ बालक जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त तक इन तीन चीजोंको छूता भी नहीं । ऐसे इन ८ अभक्ष्यों का जो त्याग है वह जैनकुलमें उत्पन्न होने वाले अथवा उच्चकुलमें उत्पन्न होने वाले पुरुषके स्वभावतः पाया जाया है और किसीके त्याग द्वारा ये अष्ट मूलगुण होते हैं । जो लोग इनका सेवन करते आये हैं उन्हें उपदेश मिले तो उस उपदेशको सुनकर इनका त्याग कर देते हैं तो वहाँ उपदेशसे यह व्रत उत्पन्न हुआ, और जैनकुल आम्नायमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके स्वभावतः होता है । तो जो उच्च कुल हैं उनमें अष्टमूलगुणोंका नियम तो सुलभतासे ही निभ जाता है और जिस कुल आम्नायका त्याग नहीं है उनको उपदेश दिया जाता है और सम्यक्त्वप्राप्तिके समय तो इसका प्रसंग ही नहीं रहता है । सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी इन खोटी चीजोंके सेवन में नहीं रहा करता, यह बात बतायी जा रही है । तो अब इस प्रसंगको सुनकर अपना व्रत आचरण शुद्ध रखनेके लिए बड़े पुरुषोंको, माता-पिताको इस ओर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा न तो खोटे व्यसनोंमें जाय, न इन खोटे पदार्थोंके भक्षणमें जा सके और बड़े युवक पुरुषोंको यह सोचना चाहिये कि अपने जैनकुल आचारसे यदि गिर गए तो फिर यह जीवन बेकार है । भला जहाँ इतना शुद्ध निर्दोष शासन है कि जिस शासनके सेवन करनेसे अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके, जो शासन बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त होता है उस शासनको पाकर यहाँ प्रमाद कर रहे हैं, तो जो धर्म, जो शासन हमारे उद्धारके लिए मिल रहा था उसे जब हमने बेकार खो दिया तो बताओ फिर हम कहाँ पार लग सकते हैं ? तो ऐसे उत्कृष्ट जैनशासनको पाकर एक तो सम्यक्त्वको पानेका प्रयत्न करना चाहिए । उसके पानेका प्रयत्न यही है कि

गुरुसत्संग करें। गुरुसत्संग दो प्रकारसे हो सकता है—एक तो गुरुजन मिलें, उनका सत्संग विशेष रहना, उनका आदेश सुनें, उनका आदेश मानें। दूसरे—जो गुरुजनोंके द्वारा लिखित ग्रन्थ हैं, शास्त्र हैं उनका स्वाध्याय करें। तो उनकी वाणीका जब स्वाध्याय करेंगे तो वह भी गुरुसत्संग कहलाता है, क्योंकि जब स्वाध्याय करते हैं और उनमें जो उपदेश आत्माको हित-कर लगा तो उस समयमें गुरुकी मुद्रा किसी न किसी रूपमें सामने आ जाती है। तो गुरु-सत्संग करनेके ये दो उपाय हैं, जिनमें साक्षात् गुरुसत्संग मिलना तो कठिन है, पर स्वाध्याय कर सकना, यह तो आपके लिए रोज मिल सकता है। तो इस ओरसे प्रमादी न होना चाहिए। अगर ये बाहरी लेन-देन रखनेमें ही, उनके ही लेखा-जोखा करनेमें, उनके ही अध्ययनमें जीवन का सारा समय खो दिया तो फिर लाभ कुछ नहीं मिलेगा। यद्यपि यह भी एक गृहस्थीमें रहनेके लिये उपाय है, लेकिन मुख्य काम तो वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति है। वह मिलेगा शास्त्रोंके अध्ययनसे। तो शास्त्रस्वाध्याय करके हम अपने गुरुसत्संगका प्रण निभायें और गुरु-सत्संग द्वारा अपने इस जीवनको सफल बनायें।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढ़ो नैष्ठिकः साधकोथवा ॥७२५॥

आठ मूल गुणोंके बिना नामतः भी श्रावकत्वका अभाव—अष्ट मूल गुण धारण किए बिना तो श्रावक नाममात्रका भी नहीं कहा जा सकता। फिर अष्ट मूल गुणोंसे रहित पुरुषको पाक्षिक गूढ़, नैष्ठिक अथवा साधक आदि कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाक्षिक श्रावक उसे कहते हैं जो कि प्रतिमारूपसे व्रत धारण न करे, किन्तु जैनशासनका श्रद्धान हो, जैनशासनका पक्ष ग्रहण किए रहे, ऐसे सम्यग्दृष्टि अविरत पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं। गूढ़ श्रावक उसे कहते हैं कि जो व्रतोंका अभ्यास कर रहा है, प्रकट नियमरूप कुछ नहीं लिया है, ऐसा सदा-चार पाक्षिक श्रावक गूढ़ श्रावक कहलाता है। जिसने प्रतिमारूप व्रत ग्रहण किया है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं, और जो मरणकाल आनेपर संन्यासकी विधिपूर्वक चेष्टा कर रहा हो उसे साधक कहते हैं। तो ये चार प्रकारके मूल गुण बताये हैं। इन गुणोंको जो धारण नहीं करता उसे नाममात्रका भी श्रावक नहीं कहा जा सकता है। इस कारण श्रावक व्रत ग्रहण करने वाले पुरुषको अष्ट मूल गुणोंको अवश्य ही धारण करना चाहिए।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर पञ्चकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

आठ मूल गुणोंका निर्देशन—अष्ट मूल गुण कई प्रकारसे बताये गए हैं, लेकिन जो सर्वसाधारणको सम्भव है, जो कुल आम्नायसे भी शुद्ध आचरण वाला नहीं है वह भी जैसे कमसे कम त्यागको निभा सकता है, उस दृष्टिसे ये अष्ट मूल गुण बताये गए हैं। मद्य, मांस,

मधुका त्यागी और पञ्च उदम्बर फलका त्याग करने वाला पुरुष अष्ट मूल गुणोंका धारी कहलाता है । तो इतने अष्ट मूल गुण पालन करने वाला नाममात्रका श्रावक कहा जाता है, ऐसा यह पुरुष क्षमा धर्मका पालन करने वाला है । जो त्रस जीवोंका घात बचाया है उस जीवने उसपर क्षमा ही तो की है । तो ऐसे उन त्रस जीवोंपर जहाँ क्षमाभाव नहीं है वह तो नाममात्रका भी श्रावक नहीं कहा जा सकता । जो केवल श्रावक संज्ञा ही धारण किए है उसको ये तीन प्रकारके मकार अर्थात् मद्य, मांस, मधु और ५ फलोंका त्याग होना ही चाहिए । जो इनके भी त्यागी नहीं हो सकते उन्हें तो जैन ही न कहा जा सकेगा । तो ऐसे इन ५ उदम्बर, ३ मकारोंका त्याग करना गृहस्थ पुरुषके लिए अनिवार्य आवश्यक है ।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥७२७॥

व्यसनत्यागका कर्तव्य—गृहस्थ पुरुषोंको सप्तव्यसनोंका त्यागी भी अवश्य होना चाहिए । जो व्रतका पालन करता है अथवा पालन करना चाहता है, शुभक्रियावोंको चाहता है तो ऐसे गृहस्थका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह सप्तव्यसनका परित्याग करे । ये ७ व्यसन निरंतर संक्लेश, शल्य और अपवित्रता बनाये रहते हैं । वे सातों ही व्यसन ये हैं—जुवा खेलना, मांसभक्षण करना, मदिरा पीना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीगमन करना । ये ७ प्रकारके व्यसन पापपरिणामको बनाये रहते हैं, इस कारण ७ व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए । कोई पुरुष शरीरसे शुभचेष्टायें तो करे—जैसे मंदिरमें जाये, पूजन करे अथवा जापसामायिक दे, और-और प्रकारसे एकाशन उपवास आदिक धर्मक्रियायें करे, किन्तु सप्तव्यसनका परित्याग नहीं है तो उसके लिए वे सब क्रियायें विडम्बनारूप हैं । सप्तव्यसनोंके त्याग बिना व्रतोंमें कभी प्रगति हो ही नहीं सकती । इन व्यसनोंके स्वरूपपर दृष्टि देनेसे यह बात भली-भाँति विदित हो जाती है । जो पुरुष जुवा खेलता है, हार-जीतकी दृष्टि बनाये है, उसकी ओर हो उसकी धुन बनी रहती है । यहाँ तक कि जुवा खेलने वाला पुरुष स्वयं अपने खाने-पीनेकी भी सुध नहीं रख पाता और इस हार-जीतमें तब तक चलता रहता है जब तक अपना सर्वस्व न खो दे । इतना ही नहीं, समस्त चारित्रको भ्रष्ट करनेका भी यह कारण बन जाता है । मांसभक्षणमें जीवोंपर कितना क्रूरताका परिणाम बना हुआ है ? प्राणघात बिना मांस उत्पन्न नहीं होता, और जो माँसभक्षण करते हैं तो चाहे मरे हुए जीवका मांस खाया अथवा जीवित जीवको मारकर खाया, हिंसा सबमें बराबर लगती है । तो ऐसे मांसभक्षी पुरुष क्या व्रत करेंगे ? मद्यपान तो बेहोशीको उत्पन्न करता है । वहाँ तो माँ-बहिनको भी सुध नहीं रहती है । ऐसे मद्यपायी पुरुष शुभक्रियायें कहाँ कर सकते हैं ? वेश्यागामी अर्थात् परस्त्रीसे सम्बन्ध रखने वाले पुरुषका तो पहिले बहुत मलिन चित्त हो

जाता है। जो चोरी और शिकारके व्यसनी हैं उनके तो निरन्तर ही क्रूरताका परिणाम रहा करता है। ऐसा पुरुष शुभक्रियायें करनेका भी पात्र नहीं होता। इस कारण व्रती और अव्रती सभी श्रावक सभीके लिए आवश्यक है कि वे अष्ट मूल गुणोंको धारण करें और सप्तव्यसनोंका परित्याग करें।

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥७२८॥

निरतिचार मकारत्यागका संकेत—तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीके ५-५ अतिचार बताये गए हैं उन अतिचारोंको भी समझकर उनसे दूर रहनेका यत्न करना चाहिए। तो व्रतके पालनमें कोई अतिचार लगाता रहे तो ऐसे प्रमाद और भावकी शिथिलता आ जाती है कि कोई समय ऐसा होगा कि व्रतोंका पालन भंग कर देगा। तो व्रतोंके अतिचार भी टालना चाहिए। जहाँ इतना उपदेश किया गया है वहाँ यह बताओ कि मद्य, मांस आदिकके सेवनकी बात किस तरह युक्त हो सकती है ? याने मद्य आदिकका सेवन तो पहिले ही सर्वप्रकारसे त्यागने योग्य है। जहाँ इतनी सूक्ष्मताको बात कही हो कि रंचमात्र भी व्रतोंमें दोष न लगना चाहिए अन्यथा वह पतनका कारण होगा। तो जहाँ क्षमा नहीं है, क्रूरता बनी है, ऐसे मद्य आदिकके भक्षणमें कौन पुरुष लग सकेगा ? सारांश यह है कि नाममात्रके श्रावकको भी अष्ट मूल गुणों का पालन करना चाहिए और सप्तव्यसनोंका त्याग रखना चाहिए, तब ही वह अपने जीवनमें अपना उत्थान कर सकेगा।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥७२९॥

गृहस्थोंको पात्रदानके कर्तव्यका प्रतिपादन—श्रावकके अन्य कर्तव्य भी बताये जा रहे हैं। जो श्रावकोत्तम हैं, जो विवेकी श्रावक हैं उनका कर्तव्य है कि वे पात्रबुद्धिसे और श्रद्धासे जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट पात्रके लिए चार प्रकारका दान देना चाहिए। पात्र सम्यग्दृष्टि पुरुष ही हो सकता है। पात्रका अर्थ है योग्य मोक्षमार्गमें लगे हुए जीव। सम्यक्त्वके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता, इसलिए सभी पात्र सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनमें जो पात्र व्रत ग्रहण किए हुए नहीं हैं, किन्तु श्रद्धा जिनकी पुष्ट है वे पुरुष जघन्य पात्र कहलाते हैं, और जो श्रावक व्रत ग्रहण कर लेते हैं, प्रतिमाधारी हैं वे मध्यम श्रावक कहलाते हैं और जो समस्त परिग्रहोंसे रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर हैं वे उत्तम पात्र कहलाते हैं। तो इन सभी पात्रोंके लिए चार प्रकारके दान जानना चाहिए। 'जीवको भयंकर विडम्बनामें पटकने वाली कषाय है लोभकषाय। जहाँ पाये हुए वैभवका उपयोग केवल अपने विषयसेवनमें अथवा मोह के विषयभूत कुटुम्बी जनोंके पालनमें लगाना कर्तव्य समझ रखा हो, अन्य जीवोंपर कुछ भी

दयादृष्टि न हो तो ऐसा पुरुष मोक्षमार्गमें क्या कदम रख सकता है ? तो उस लोभकषायको दूर करनेके लिए तथा पापकर्ममें ही तो धनका संचय होता है, उस संचयमें लगे हुए दोषोंकी निवृत्तिके लिए त्याग करना, दान करना श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है ।

आहारदान, औषधिदान, अभयदान व ज्ञानदान इन चार दानोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता—वह दान चार प्रकारका होता है—(१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) अभयदान व (४) ज्ञानदान । तो ये चार प्रकारके दान योग्य पात्रोंको दिये जाने चाहिएँ । जैसा जो पात्र होता है उसमें दिया हुआ दान उस ही प्रकारके फलको उत्पन्न करता है । जैसे योग्य खेतकी विशेषतासे धान्यफलमें विशेषता उत्पन्न होती है, ऊसर भूमिमें खेती नहीं होती और योग्य भूमि जितनी विशिष्ट हो उतनी ही बढ़िया खेती बनती है, ऐसे ही योग्य पात्रको दिए हुए दानके फलकी विशेषता होती है । जैसे पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता हुआ करती है उसी प्रकार दाताकी विशेषतासे भी दातारकी विशेषता बन जाती है । पात्र श्रद्धालु हो, पात्रके प्रति अपूर्व भक्ति रखता हो, उसे कोई सांसारिक सुखकी वाञ्छा न हो, एक रत्नत्रय धर्मके पालनकी जिसके लगन लगी हो, ऐसे दाता पात्रके लिए दान दे तो उस दानकी भी विशेषता हो जाती है । दानकी फल भोगभूमिके सुख भोगना, यह तो बताया ही गया है, किन्तु रत्नत्रयकी विशेष भक्तिसे किया हुआ दान स्वर्गादिक सुखोंको तो देता ही है, पर वह अपवर्गका भी कारण बनता है । ये दान चार प्रकारके कहे गए हैं—यद्यपि सामान्यदृष्टिसे ये चारों ही दान पुण्यबन्धोंके विशेष कारण हैं, फिर भी इनमें उत्तरोत्तर विशेषता है—आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदान—इस क्रमसे दानके नाम रखें और इनकी विशेषताको जानें । आहारदानसे तो एक दिनके लिए पात्रकी क्षुधा वेदना दूर होगी, एक बाधा मिटेगी । औषधिदानसे रोग दूर हो गया तो कुछ दिनों तक उससे आराम रहता है और वह धर्मसाधनामें लगता है । तो आहारदानसे औषधिदानकी विशेषता हुई और अभयदानसे तो वह आजन्म भयरहित बन जाता है । उससे जीवनभर उपकार है तो अभयदानकी उससे भी अधिक विशेषता हुई । ज्ञानदानकी विशेषता तो सर्वोत्कृष्ट है । इस ज्ञानदानसे जीव केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और सदाके लिए जन्म-मरणके संकटसे दूर हो जाता है । ऐसे इस जीवके लिए सदा ही परमसहायक बनता है यह ज्ञानदान । यह ज्ञानदान एक ऐसा विशिष्ट गुण है कि जो जीवको सर्वसंकटोंसे छुटाकर आनन्दधाममें पहुंचा देता है । इस कारण सभी दान श्रावकोंको करने चाहिएँ और विशेषतया उत्तरोत्तर दानोंमें अधिक प्रीति रखनी चाहिए ।

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥७३०॥

कृपाबुद्धिसे कुपात्र व अपात्रके लिये दानका अनिषेध—उक्त श्लोकमें बताया गया है

कि श्रावकोंको पात्रदान करना चाहिए । अब पात्रसे बचे हुए जो अन्य जन हैं उनके लिए भी यथोचित कुछ दान किया जाना चाहिए, इसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है । पात्र को छोड़कर शेष जो जन बचे हुए हैं वे दो प्रकारके होंगे—या तो कुपात्र होंगे या अपात्र होंगे । कुपात्रका अर्थ है कि जो पात्र तो नहीं है, किन्तु पात्र जैसा भेष बनाये हुए है वह कुपात्र कहलाता है । और अपात्र उसे कहते हैं जो कोई भेष तो नहीं बनाये हुए है, न सम्यग्दृष्टि पुरुष है, किन्तु है कोई किसी स्थितिका मनुष्य । तो श्रावकको कुपात्र और अपात्रके लिए भी यथोचित दान करना चाहिए । हाँ, इतनी विशेषता जरूर है कि इस कुपात्र और अपात्रमें पात्रबुद्धि न करना चाहिये अन्यथा सम्यग्दर्शनका भंग होगा, मिथ्यात्वका दोष आता है । कुपात्रको पात्र समझकर दान देने वाले पुरुष मोहित हैं, उनके विवेक नहीं रहा । इसी प्रकार अपात्रको भी पात्रबुद्धिसे दान दे तो वह भी कार्यकारी नहीं है । तो पात्रबुद्धिसे कुपात्र और अपात्रको दान न देना चाहिए, किन्तु कृपाबुद्धिसे, कष्टसे निवारणकी बुद्धिसे यथोचित दान देना निषिद्ध नहीं कहा गया है । पात्रके लिए जो दान दिया जाता है वह तो भक्तिपूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिए जो दान दिया जाता है वह केवल करुणाबुद्धिसे दिया जाना ठीक माना गया है । भक्तिपूर्वक दिया जानेमें अन्तः दोष लगता है ।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥७३१॥

दीन प्राणियोंको दयादानके विधानका कथन—इस श्लोकमें यहाँ बताया जा रहा है कि शेष पुरुषोंको भी दयापूर्वक दान करना श्रावकोंका कर्तव्य है । जिसने आत्मस्वरूपको जाना है और उस ही समान समस्त जीवोंके स्वरूपको समझा है ऐसा पुरुष दयासे ओतप्रोत हुआ करता है । यदि वह श्रावक कोई क्षुधा, तृषा, रोग आदिकसे पीड़ित देख रहा हो तो उनको देखकर वह करुणासे भर जाता है और उनके कष्टनिवारणके लिए यत्न करता है । तो पापकर्मके उदयसे कोई पुरुष दुःखी हों तो ऐसे दीन दुःखी पुरुषोंके लिए भी इस करुणासागर श्रावकको दान करना चाहिए अर्थात् यथायोग्य दान सेवा करके इन पुरुषोंकी पीड़ाको भी दूर करना चाहिए ।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधी ॥७३२॥

गृहस्थधर्ममें प्रभुपूजाका विधान—विवेकी श्रावक दान करे, इस कर्तव्यका वर्णन करके अब पूजा, भक्ति आदिक कर्तव्योंका विधान करता है । जो सद्बुद्धि गृहस्थ हैं उनका कर्तव्य है कि वे अरहंत भगवानकी पूजा करें । अरहंत भगवान १३वें गुणस्थानवर्ती परमात्मतत्त्व हैं । १४वें गुणस्थानवर्ती प्रभुको भी अरहंत कहते हैं । पर उस गुणस्थानको तो लघु

अंतर्मुहूर्त काल है और विशेष निवास और व्यवहार तो १३वें गुणस्थानवर्ती परमात्माका होता है । तो जो सयोगकेवलीं हैं, वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान हैं उनकी पूजा करना भी सद्बुद्धि गृहस्थका कर्तव्य है, और जहाँ अंतरङ्गके दर्शन नहीं हैं तब अरहंत भगवानकी प्रतिमाकी स्थापना करना, पूजा करना कर्तव्य है । प्रतिमाको दृष्टिमें रखकर जो श्रावक पूजा करता है वह कहीं धातु पाषाणकी पूजा नहीं करता, किन्तु जिसकी स्थापना की है उसके चारित्रका, उसके गुणोंका स्मरण करता हुआ, वहाँ ही दृष्टि रखता हुआ पूजा करता है तो वह भी अरहद्भक्ति है । भक्ति भावोंसे हुआ करती है । जिसके भावोंमें अरहंत स्वरूपके प्रति अनुराग उमड़ा है, ऐसे पुरुषके अरहद्भक्ति हो ही जाती है । तो अरहंतकी पूजा करना अथवा अरहंतकी प्रतिमा में अरहंतकी स्थापना करके अरहंतकी पूजा करें और स्वर व्यञ्जनोंको स्थापित करके सिद्धकी भी पूजा करें । सिद्धभगवान शरीररहित हैं, उनकी मूर्ति तो बनायी नहीं जा सकती तब सिद्ध के वाचक जो अक्षर हैं उनमें ही सिद्धकी स्थापना करके पूजा बतायी गई है ।ऐसे कितने अक्षर हैं जो कि सिद्ध परमेष्ठीके वाचक हैं ? तो कहना होगा कि सभी अक्षर सिद्धपरमेष्ठीके वाचक हैं, क्योंकि सभी अक्षरोंमें आदि करके पद भी बनाया जा सकता है कि जो सिद्धपरमेष्ठीके वाचक बनते हैं तब अ आदि स्वर, क ख आदिक व्यञ्जन इनको स्थापित करके सिद्ध भगवान की पूजा गृहस्थ श्रावक करें, इस प्रकार जैसे करुणाबुद्धि और पात्रबुद्धिसे दानका उपदेश किया था तो यहाँ भक्तको अरहंत भगवान और सिद्ध भगवानकी पूजा करनेका कर्तव्य बताया गया है। पूजामें पूजक जब अभेदभावसे तल्लीन हो जाता है तो उसकी वह भावपूजा कहलाती है और जब तक यह सद्बुद्धि रहती है कि ये अरहंत भगवान हैं, अनन्तचतुष्टयके धनिक हैं, ऐसी जब तक भेदरूप बुद्धि रहती है तब तक भी वह सच्ची भक्ति नहीं । उस समय उसकी भक्ति में जो गुणानुवाद होता है वह है द्रव्यपूजा अथवा जल चन्दन आदिक द्रव्योंके सहारेसे उनकी पूजा करना द्रव्यपूजा कहलाता है । पूजाका ध्येय क्या है कि यह भक्त अपने भक्त अपने सहज ज्ञानस्वभावमें ज्ञानको मग्न कर सके । ऐसी धुन रखने वाला श्रावक विशुद्ध वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूपका चिन्तन करता है, क्योंकि उनके जो शुद्ध परिणमन प्रकट हुआ है वह आत्माके सहजस्वभावके अनुरूप होता है । उस गुणस्मरणसे सहज ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि जगती है और सहज ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि होनेपर परबुद्धि छूटकर स्वयंके ज्ञायकस्वभावमें ज्ञान मग्न हो जाता है । तो आत्मतत्त्वमें प्रवेशके लिए यह पूजा साधकतम बतायी गई है ।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः ।।७३३।।

गृहस्थधर्ममें आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंके पूजासहित स्तवनका विधान—गृहस्थ श्रावकोंके कर्तव्य क्या हैं ? इस विषयमें अब तक यह कहा गया है कि अष्ट मूल गुणोंका धारण

करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है अर्थात् मद्य, मांस, मधु पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग करना अनिवार्य धर्म है। इसके बाद कहा गया है कि ७ प्रकारके व्यसनोंका त्याग करना भी अत्यंत आवश्यक है। जो पुरुष अष्ट मूल गुणोंको धारण करेगा, सप्तव्यसनोंका त्यागी होगा, उसीको अधिकार है कि भगवतपूजा करे। तो भगवान जिनेन्द्रकी प्रतिमा स्थापित करके या स्वर व्यञ्जन स्थापित करके सिद्ध यंत्रकी पूजा करें और फिर बताया है कि चार प्रकारका दान देना श्रावकका रोजका कर्तव्य है। चार प्रकारके दानोंमें आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदान इनकी उत्तरोत्तर विशेषता बतायी है, क्योंकि आहारदानसे तो पात्रका एक दिनका ही काम चलेगा, क्षुधा एक दिनके लिए दूर हो जायगी और औषधिसे कुछ महीनोंके लिए आराम मिल जायगा, क्योंकि रोगनिवृत्त हो गया। अभयदानसे जिन्दगीभर आरामसे रहेगा। रहनेके लिए कुटी बनवा दिया अथवा अन्य कोई अभयदान दे दिया कि जिससे वह जीवनभर रक्षित रहेगा, किन्तु ज्ञानदानसे तो भव-भवके संकट दूर हो जायेंगे, क्योंकि जन्ममरण मिट जाय और यह सिद्धप्रभु बन जाय, इससे बढ़कर और वैभव क्या होगा ? इस ज्ञानदानका फल इन चारों प्रकारके दानोंमें सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। जिसको विद्यालय खोलकर, छात्रों को मदद करके, शास्त्रदान करके अनेक तरहसे केवलज्ञानकी परम्पराका दान कहा है। अब कह रहे हैं यह कि इतने कर्तव्योंको करता हुआ यह श्रावक आचार्य, उपाध्याय और साधु पुरुषोंकी भी पूजा करे। आचार्य, उपाध्याय और साधुके चरणोंमें स्तुतिको करके मन, वचन, कायकी शुद्धिसे अष्टद्रव्योंसे पूजा करे। दर्शनकी वास्तविक स्तुति उनके गुणोंकी स्तुतिसे होती है और जो साधुवोंके गुणोंपर दृष्टि रखता है उसको अपने गुणोंपर दृष्टि आती है और गुणदृष्टिसे गुणोंका विकास होता है, इस कारण रत्नत्रयकी मूर्ति आचार्य, उपाध्याय और साधुवों की स्तुति करते हुए पूजा करें।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम्।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥७३४॥

गृहस्थधर्ममें ब्रह्मचारी, व्रती व इतर साधर्मिजनोंके सम्मानादि कर्तव्यका विधान— यहाँ तक पञ्चपरमेष्ठियोंकी भक्ति पूजाका भी वर्णन किया गया था। अब कह रहे हैं कि अन्य भी जो साधर्मीजन हैं वे व्रती हों अथवा अव्रती हों उनका भी सम्मान यथायोग्य करना चाहिये। संसारको तोड़ने वाला धर्म जैनधर्म है। इस धर्मके जितने भी अनुयायी पुरुष हैं वे सब साधर्मी जन कहलाते हैं। साधर्मी जनोंका सत्संग, साधर्मीजनोंका मिलना कितना महान उपकारक है, यह बात रोज-रोजके वातावरणसे भी विदित हो जाती है। तो साधर्मीजन जो एक जैनशासनके मार्गमें कुछ न कुछ लगे हुए हैं उनका सम्मान करना भी रत्नत्रयकी वृद्धिमें मददगार होता है। यद्यपि साधारण साधर्मी जन स्वयं रत्नत्रयमें विशेष अग्रणी नहीं हैं तो

भी ये जैनशासनके अनुयायी हैं, इतनी श्रद्धासे साधारण जनोंका भी सम्मान किया जा रहा हो तो वह भी इस श्रावककी उन्नतिके लिए ही है, और फिर उनमें जो व्रती जन हैं, ब्रह्मचारी हैं उनकी शुश्रूषा तो विशेषतया करनी चाहिये। यों साधर्मी जनोंका अनुराग भी आत्मसंयमके लिए प्रेरणा देने वाला होता है।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देयं सम्मानदि लोकानामविरुद्धतः ॥७३५॥

व्रताढ्य नारियोंके लोकाविरुद्ध सम्मानदानादिकी जिनागममें अनिषिद्धता—जिस प्रकार व्रतयुक्त अथवा व्रतरहित साधर्मी जनोंका सम्मान करना बताया है उसी प्रकार जो व्रतधारी स्त्रियाँ हैं (महिलायें हैं) उनका भी यथायोग्य सम्मान करना जैन आगममें निषिद्ध नहीं है, अर्थात् व्रत धारण करने वाली ब्रह्मचारिणी अथवा अन्य साधर्मी महिलावोंका भी यथायोग्य सम्मान करना चाहिए। चूंकि वे महिलायें व्रतधारी हैं, रत्नत्रयमार्गमें बढ़ने वाली आत्मा है, इस कारण सम्मान करना आवश्यक है, पर जैनआगममें जितना जो कुछ सम्मान बताया गया है उतना ही सम्मान जो लोकके अविरुद्ध है सो ही करना चाहिए। लोकमें जितना सम्मान प्राप्त है उतने सम्मानको यहाँ आज्ञा दी गई है। इस प्रकार ये श्रावक सिद्ध भगवानसे लेकर साधारण साधर्मी जनों तक यथायोग्य भक्ति, विनय सेवा करनेका अपना कर्तव्य समझते हैं।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणं सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नाऽवद्यलेशतः ॥७३६॥

गृहस्थधर्ममें जिनचैत्यगृहादिकोंके सावधानतया निर्माणकी विधेयता—विवेकी श्रावक का यह भली प्रकार निर्णय है कि जगतमें जो कुछ भी वैभव सम्पदा प्राप्त होती है वह पुण्योदयके अनुसार प्राप्त होती है। कोई पुरुष मन, वचन, कायके श्रमसे चाहे कि मैं धनोपार्जन बहुत कर लूं, तो यह उसके वशकी बात नहीं है। यदि पूर्वकृत पुण्यका उदय है तो मामूली से श्रममें भी वैभव सम्पदाका खूब संचय होता है। जहाँ यह उसे भान है वहाँ यह भी उसके निश्चय है कि मिली हुई सम्पदासे मेरे आत्माको कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह समागम या तो रागका कारण होगा या विरोधका कारण होगा, उससे कोई विचित्र घटना ही बनेगी। उससे आत्माका क्या लाभ है? आत्माका लाभ तो आत्मदृष्टिसे है, तत्त्वज्ञानमें है, ऐसा भी उसके निश्चय है, तब गृहस्थावस्थामें जब परिग्रह जुटा हुआ है तो उसके यह भाव रहता है कि इस परिग्रहका सदुपयोग किसी धार्मिक उत्थानमें हो। तब धार्मिक उत्थानोंका एक मूल साधन जिनमन्दिर है। तो श्रावक जिनमन्दिरके निर्माणमें भी अपनी सावधानी रखते हैं। जिस प्रकार आरम्भ कम हो और जिनगृहनिर्माण भी हो उस प्रकारकी भी सावधानी बनाते

हैं, सो वहाँ यद्यपि कुछ न कुछ आरम्भका दोष लगता है, क्योंकि सारे सामान इकट्ठे करना, बनाना, उसमें आरम्भका दोष है, फिर भी यह बताया गया है आगममें श्रावकोंके लिए कि यहाँ थोड़ा सामद्य दोष लगता है, थोड़ा हिंसा पाप लगता है, लेकिन जिनमन्दिरके निर्माण का फल विशेष है, उससे बहुत अधिक लोग लाभ लेंगे। देखिये—मनुष्योंपर प्रभाव पड़ता है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका। जैसा द्रव्य होता है उस प्रकारका भाव उत्पन्न होता है। जैसे किसी व्रती, सज्जन विरक्त ज्ञानी पुरुषका समागम मिलता है तो उसके सामने बैठकर उस ही प्रकारके भाव चलते हैं और मोहियोंका, अज्ञानियोंका संग मिलता है तो उस ढंगसे उसका परिणाम होने लगता है। तो जैसे द्रव्यका, जैसे मनुष्यका संग प्राप्त हो उस प्रकारके परिणाम बनते हैं। कालसे देखिये—जैसा समय होता है वैसा भव बनता है। जैसे ब्रह्ममुहूर्तका समय प्रातःकालका समय. कैसा ही क्रूर पुरुष हो उसकी क्रूरतामें कुछ न कुछ अन्तर आता है। प्रातःकालीन समय ही ऐसा है, दोपहरका, शामका, रात्रिका समय जैसा मोहीजनोंपर गुजरता है, सुबहके समयमें उसपर भी कुछ न कुछ असर होता है। तो जैसा समय होता है वैसा प्रभाव भी पड़ता है। तो ऐसे ही समझना चाहिये कि जैसा क्षेत्र मिलता है वैसा प्रभाव पड़ता है। म्लेच्छ क्षेत्रोंमें मुनियोंके और ही प्रकारके परिणाम रहते हैं, आर्यक्षेत्रमें और प्रकारके रहते हैं और घरमें, दूकानमें, बाजारमें परिणाम और प्रकारके रहते हैं। तो मन्दिरमें परिणाममें कुछ न कुछ विशुद्धिकी ओर ही बढ़ते हैं, कषायें मंद होती हैं और मन्दिर एक ऐसा उत्तम क्षेत्र है कि जहाँ भक्तिके परिणाम बढ़ें, कषायें मन्द हों। तो ऐसे क्षेत्रका, मन्दिरका निर्माण करना भी श्रावकका कर्तव्य है। मंदिरमें जब जिनप्रतिमाके दर्शन किये जाते, सूक्ष्मदृष्टिसे जब उनकी मुद्राको निरखते हैं तो इस तरहसे निरखा जाता है कि वहाँ जिसकी स्थापना की है उसका चरित्र, उसकी वीतरागता, उसका प्रताप इसके ज्ञानमें आने लगता है। और जब साक्षात् अरहंतका स्मरण होता है—ओह ! ऐसे समवशरणमें विराजमान अरहंतदेव रागद्वेषसे रहित, लोकालोकके जाननहार, कैसी उनकी स्थिति है, बस वही सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि है, वही विभूति है और जगतमें ये सब वैभव ऋणवत् हैं, निःसार हैं, इनमें कुछ भी सार नहीं है, ऐसा उसे परिचय होता है, और इसमें उत्कर्ष वाली उसके भावना जगती है। इस लोकमें मुझे कुछ विभूति न चाहिए, केवल एक मेरे ज्ञानमें विशुद्धि बढ़े और रागद्वेष मोह मेरे दूर हों, बस यही विभूति चाहिए, अन्य कुछ भी मुझे वाञ्छा नहीं है, ऐसा इसका परिणाम होता है, और जब जीवके शुद्ध परिणाम होते हैं तो कर्मबन्ध भी होगा तो विशिष्ट पुण्यकर्मका बन्ध होता है, और ऐसे शुद्ध भावोंमें उसके प्रकाश भी सही बना रहता है। तो जैनमन्दिरोंसे लोग पुण्यलाभ लेते हैं, मोक्षमार्गका लाभ लेते हैं, अनेक पुरुषोंका कल्याण होता है। इसलिए जैनमन्दिरोंका निर्माण कराना भी श्रावकोंका कर्तव्य बताया गया है।

सिद्धानामर्हताञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमा शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्प्रतिष्ठापयेत् सुधी ।।७३७।।

सागारधर्ममें अर्हद्बिम्ब व सिद्धयत्रकी प्रतिष्ठापना व संस्थापनाकी विधेयता—जैनमन्दिर बनवाया श्रावकने, अब उस जैनमन्दिरमें क्या चीज विराजमान करनी चाहिये ? उसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है । वहाँ सिद्ध भगवानके यंत्र और अरहंत भगवान की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए । उस प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराकर स्थापित करना चाहिये । सिद्ध भगवान तो शरीररहित हैं, इसलिए उनकी तो कोई प्रतिमा बन नहीं सकती है, तब फिर उनका आकार बनाया जायगा । सिद्ध भगवानके वाचक जो शब्द हैं अथवा जो आदि-आदिके अक्षर पाये जाते हैं उनकी स्थापना करके सिद्धयंत्र बनाये जाते हैं । वे कितने अक्षर हैं ? सभी अक्षर आते हैं । तो अक्षरोंसे सिद्धका यंत्र स्थापित करें और अरहंतकी प्रतिमायें स्थापित करें । और उन प्रतिमाओंका प्रथम प्रतिष्ठापन करना चाहिये पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा । यंत्र-मंत्रपूर्वक प्रतिमाओंमें प्रभुकी स्थापना की जाती है, उन यंत्रोंकी शक्तिसे वह प्रतिमा पूज्य हो जाती है । ऐसी प्रतिमा और सिद्ध यंत्रोंकी स्थापना करनी चाहिए । श्रावकोंके कर्तव्य सम्पूर्ण रीतिसे बताये जा रहे हैं कि विशेष रीतिसे बतानेपर इस ग्रंथका बहुत विस्तार बन जाता है । यहाँ तक इतनी बात बतायी गई है कि अष्ट मूल गुण धारण करें, सप्तव्यसनोंका त्याग करें, जिनप्रतिमाके जिन-यंत्रोंकी पूजा करें, चार प्रकारका दान दें, उपाध्याय और साधुवोंकी वन्दना करें, जैनमन्दिरोंका निर्माण करें और प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराकर उनकी स्थापना करें । अब अन्य कर्तव्य बतला रहे हैं जो कि श्रावकोंके कर्तव्य हैं ।

अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ।।७३८।।

श्रावकधर्ममें संयमकी विराधना न करके तीर्थयात्रादिकी विधेयता—विवेकी श्रावक तीर्थ आदिक यात्रामें अपना मनउद्यमी बनाये और तीर्थ आदिक यात्रा करके संयमकी विराधना न करे । तीर्थवन्दनासे जो पुण्यसंचय होता है और यथासमय भगवानके चारित्रका स्मरण करके जो वीतरागताके लिए उत्कृष्ट मिलन है वह मोक्षमार्गके लिए बड़ा काम करता है, सो श्रावक तीर्थ आदिक यात्रा करे, बड़े हर्षपूर्वक करे, किन्तु यह ध्यान रखे कि वहाँ संयमकी विराधना न हो । जैसे पहाड़पर चढ़े तो रात्रिको न चढ़े । जब कुछ उजेला हो तब वन्दनाके लिए जाना । रात्रिको चढ़नेपर संयमकी विराधना है, और विशेषकर जैसे चातुर्मासमें और कार्तिक माह तक भी और कुछ मंगसिर माह तक भी देखा गया है कि रात्रिमें केचुवा, लट वगैरा बहुत हुआ करते हैं, तो उनकी हिंसा होगी । यद्यपि गृहस्थ लोगोंको इस बातमें सुविधा बहुत प्राप्त है कि वे रात्रिको पहाड़पर चढ़ें, क्योंकि ११-१२ बजे तक खाने-पीनेके समय तक

पहाड़से वन्दना करके नीचे लौट आते हैं। तो देखिये—यहाँ अपने शरीरकी सुविधासे ही तो रात्रिमें वन्दना की, लेकिन इस बातके लिए धर्म इजाजत नहीं देता है। अगर भली-भाँति विधिपूर्वक यात्रा करनी है तो सुबहसे ही यात्रा करनी चाहिए, चाहे शाम तक लौटकर वापिस आ पायें और चाहे एक उपवास हो जाय, कुछ भी हो, लेकिन रात्रिमें तीर्थवन्दना करनेकी धर्ममें इजाजत नहीं है, क्योंकि उसमें संयमकी विराधना है। भले ही भाव यह भरते जा रहे हैं कि हम वन्दना कर रहे हैं, नीचे अनेक जीव मरते जा रहे हैं, तो यह कोई उचित वंदना नहीं, यह कोई विवेकपूर्ण वन्दना नहीं। इस जीवहिंसासे बचनेके लिए ही विवेकी पुरुष रात्रिमें वन्दनाके लिए नहीं जाया करते हैं। अब रही असुविधावोंकी बात तो भला बतलावो—मौज भी बना रहे और पुण्यलाभ भी मिल जावे तो ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकेंगी? कोई कहे कि दिनमें गर्मी हो जाती है, इसलिए दिनमें वन्दना करना कठिन है, क्योंकि पैर जलेंगे, तो भाई शीतकालमें वन्दना करो, शीतकालमें तो दिन भर ठंडा ही बना रहता है। अब कोई कितने ही प्रश्न इस बाबत उठाग, पर वे सभी प्रश्न शारीरिक मौजको दृष्टिमें रखकर उठायेंगे, मगर रात्रिमें वन्दना करनेमें लिए धर्ममें इजाजत नहीं है। तो श्रावक जन तीर्थवन्दना आदिकके लिए मनसे खूब उत्साह रखें, लेकिन तीर्थ आदिकके समय संयमकी विराधना न करें, जीवहिंसा न हो, ऐसी दृष्टि रखकर विवेकपूर्वक तीर्थयात्रा करनी चाहिए। तीर्थयात्रा करनेकी भी विधि भली रखना चाहिए। जैसे कि लोग रात्रिको पहाड़पर चढ़ने लगते, तो यह तो बिल्कुल धर्मके विरुद्ध बात है। करनी है यात्रा, पुण्यलाभ ही करना है तो संयमसहित दिनमें ही करनी चाहिए। दूसरे—तीर्थवन्दनामें अधिकतर लोग ऐसा सोच लेते हैं कि थोड़े ही समयमें जल्दी ही हमारी वन्दना पूरी हो जाय तो भला बतलावो—सही ढंगसे वहाँ वन्दना कहाँ हो पायगी? वहाँ तो बड़ी जल्दी जल्दी चलेंगे, कहीं ढंगसे प्रदक्षिणा वगैरा भी न करेंगे, कुछ भावोंमें निर्मलता भी न लायेंगे, बस जल्दी-जल्दी दौड़कर सारी वन्दना कर आये और सन्तोष कर लिया कि हमारी वन्दना पूरी हो गयी तो भला बतलाओ ऐसी वन्दनासे क्या पाया? अरे चाहे दो, तीन, चार आदि इस तरहकी वन्दनायें न करते, अच्छे भावसे, सही विधिसे, संयमसहित केवल एक बार ही वन्दना कर लेते तो उससे लाभ भी मिलता। अरे जल्दी-जल्दी हापड़-धूपड़का काम करनेसे वन्दनाका सही लाभ नहीं मिल पाता, इसलिए बताया है कि वन्दना दिनमें संयम सहित और अच्छे भावोंसे हो।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥७३९॥

सागारधर्ममें नित्य, नैमित्तिक, जिनबिम्बप्रतिष्ठादि महोत्सवोंकी यथाशक्ति विधेयताका स्मरण—अब श्रावकके अनेक कर्तव्य बताकर इस श्लोकमें यह कर्तव्य बता रहे हैं कि नित्य

नैमित्तिक जो विधान महोत्सव किए जाते हैं उनमें शिथिलता न करनी चाहिए। नित्य महोत्सव, रोज-रोजके पूजन अभिषेक आदिक विधान, शास्त्रसभा आदिक नित्यके आरम्भ हैं, इनमें शिथिलता न लानी चाहिए। जीव एक भावरूप पदार्थ है। सिवाय भावोंके, सिवाय ज्ञानज्योतिप्रकाशके और जीवमें बात ही क्या बनी है ? हाँ कर्मोदय है सो जीवमें भाव उल्टा हो रहे हैं, विकल्प मच रहे हैं, विषयकषायोंके परिणाम होते हैं, पर हुए तो परिणाम ही। पुद्गलकी भांति आत्मा कोई मूर्तिक चीज नहीं है। यह तो भावरूप आत्मा है, तब इसकी शान्तिके लिए, इस आत्माके उद्धारके लिए भावोंको शुद्ध बनाना है, और भावशुद्धि वर्षमें एक दो बार कोई धार्मिक कार्य कर लेने मात्रसे न बन पायगी, किन्तु रोज-रोज ही इसका संस्कार डालना होगा। जैसे लोग कहीं १ वर्षमें १०-१५ दिनका विधान ठान लेते, उस विधान सम्बन्धी व्यवस्थामें करीब महीना भरका समय लग गया। अब उसके बाद वर्ष भरके ११ महीने तक धर्मकार्य करनेसे छुट्टी लिए बैठे रहे, दर्शन, पूजन, ध्यान आदि धार्मिक कार्योंसे दूर रहे तो भला बतलाओ इस तरहसे कहीं भावोंमें विशुद्धि आ सकती है ? अरे अपने भावोंको विशुद्ध बनानेके लिए रोज-रोज अपने उस तरहके संस्कार डालने होंगे, तब कहीं भाव विशुद्ध बन पायेंगे। अब देखो—जिसने वर्षमें महीना-पन्द्रह दिन तक जब धार्मिक उत्सवमें अपना समय तथा श्रम आदि लगाया तो वह यों समझो कि अपने सम्मान, यश आदिकी चाहसे किया। यदि मोक्षमार्गमें बढ़नेकी दृष्टिसे वह धार्मिक कार्य किया होता तब तो फिर बारहों महीने उसका कुछ न कुछ संस्कार बना रहता। इस कारण नित्य महोत्सवमें शामिल होना बहुत आवश्यक बात है। उसमें शिथिलता न करनी चाहिए, और भी सोचिये—यह मनुष्य-जीवन हम आपको मिला है तो यह जीवन यों ही बार-बार नहीं मिल पाता। संसारके कीड़ा मकोड़ा, पशु-पक्षी आदिक कितने ही जीव हैं। देखिये—उनकी क्या दुर्दशा हो रही है, ऐसी ही दशायें तो कभी हम आपको भी मिली थीं। आज मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला हुआ है, बात बोल लेते हैं, दूसरोंका भाव समझ लेते हैं, अपने भाव वचनों द्वारा कह देते हैं। कितनी सुविधायें हम आपको मिली हुई हैं, ऐसा सुविधापूर्ण मनुष्यभव पानेका लाभ किस बातमें है सो बताओ ? क्या लाखों करोड़ोंका धन जोड़कर रख जानेमें इस आत्माका हित है ? अरे जिन्दगी है, मरण समय आयगा, यहाँसे मरकर किसी अन्य गतिमें जाना पड़ेगा, यहाँका एक धागा भी साथ नहीं जा सकता, तो फिर इस वैभवका संचय कर जानेमें आत्माका लाभ नहीं। तो क्या यहाँके प्रजा जनोंमें कुछ अपनी इज्जत धर जानेमें लाभ है ? अरे ये प्रजाके लोग भी कर्मोंके प्रेरे हैं। आज जीवन है, यहाँसे मरण करके कहीं जायेंगे, तो कौन यहाँ मेरा साथी है, कौन यहाँ मेरा मददगार है ? यहाँका कोई भी समागम इस जीवके लिए मददगार नहीं है, तब फिर क्या करना चाहिये ? धर्म ही एक शरण है। धर्म है आत्माके शुद्ध

स्वरूपकी दृष्टि। आत्माके शुद्ध स्वरूपका भान होना, इस ओर ही लगन होना, तो यह निर्णय रखें कि मेरा जीवन है धर्मके लिए। तन, मन, धन, वचन आदि जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह सब है इस धर्मके लिए, न कि आराम, भोग अथवा सांसारिक मौजोंके लिए। ऐसा जिसका निर्णय है वह पुरुष रोज-रोज ही नित्य महोत्सवमें शामिल होगा, वहाँ शिथिलता न करेगा। इसी तरह जो नैमित्तिक महोत्सव हों, जैसा विधान हो, अष्टाह्निका आदिक पर्व हों, ऐसे कोई नैमित्तिक उत्सव आयें तो उनमें भी शामिल होना चाहिये। और जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं उन पुरुषोंको तो शिथिलता करनी ही न चाहिए, क्योंकि ऐसे महोत्सवके समय अनेक विद्वान लोग एकत्रित होते हैं, धर्मचर्चा होती है, आत्मकल्याणकी दिशा वहाँ प्राप्त होती है, तो इस तरह नित्य कार्योंमें, नैमित्तिक महोत्सवोंमें और ऐसे प्रासंगिक सभी धार्मिक कार्योंमें शामिल होना चाहिए। वहाँ शिथिलता न करनी चाहिये।

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥७४०॥

सागारधर्ममें अप्रतिम व सप्रतिम संयमकी विशेषता—यद्यपि पुरुषोंको दो प्रकारका संयम धारण करना चाहिए। वह संयम दो प्रकारका यों कहा गया है कि किसीके तो प्रतिमा रूप व्रत होता हैं और किसीके बिना प्रतिमारूप व्रत होता है। जो व्रत नियमपूर्वक अगली-अगली प्रतिमाओंमें बहुत-बहुत प्रतिमाओंके साथ-साथ पालन किये जाते हैं उन्हें प्रतिमारूप व्रत कहते हैं। गृहस्थोंके अथवा श्रावकोंके ११ प्रतिमायें होती हैं। जो जितनी प्रतिमाओंको धारण करता है वहाँ तककी समस्त प्रतिमाओंका विधिपूर्वक पालन होता है वह तो प्रतिमा रूप व्रत कहलाता है और किन्हींके प्रतिमारूप व्रत तो नहीं है, किन्तु अभ्यास रूपसे किसी प्रतिमाका पालन किया जा रहा है तो वहाँ प्रतिमारूप व्रत नहीं कहा, किन्तु उसे अनियत व्रत कहा है। तो प्रतिमारूप व्रत धारण करनेमें विशिष्ट कर्मनिर्जरा भी है और शुभ कर्मबन्ध भी है। जो श्रावक प्रतिमारूप व्रत पालन करनेमें असमर्थ हैं वे अनियत रूपसे पालन करते हैं। इस तरह प्रतिमारूप और बिना प्रतिमाके संयम धारण करनेकी प्रवृत्ति गृहस्थजनोंके होती है। सो ऐसे दोनों प्रकारमें संयमका धारण करना श्रावकका कर्तव्य है और यह कर्तव्य गृहस्थ पुरुषोंका आत्मकल्याणके अर्थ भी है और विशिष्ट पुण्यबन्धका कारणभूत है। इस तरह पूर्वोक्त मूल गुणके साथ-साथ ऐसे श्रावकोंके उत्तम गुणका ग्रहण करना श्रावकोंका प्रधान कर्तव्य है।

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥७४१॥

सागारधर्ममें यथाशक्ति तपश्चरणकी विधेयता—तप १२ प्रकारके कहे गए हैं—६ बाह्यतप और ६ आभ्यंतरतप। बाह्य तप तो अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरसंख्यान, रसपरित्याग,

विविक्त शय्यासन और काय क्लेश आदि ६ प्रकारके हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान ये ६ बाह्यतप हैं। बाह्य तप यों कहलाते हैं कि इनका सम्बन्ध बाह्य वृत्तियोंसे है। दूसरे लोग भी इन तपोंको जान जाते हैं कि यह पुरुष इस तपको तप रहा है। इस कारणसे ये बाह्य तप कहलाते हैं। अंतरङ्ग तपका अर्थ यह है कि भीतरी परिणामसे जिसका सम्बन्ध है। दूसरे लोग जिस तपको जान न सकें अथवा जिसे अन्य लोग भी न कर सकें उसे आभ्यंतर तप कहते हैं। ऐसे दोनों प्रकारके तपोंको गृहस्थ अपनी शक्ति न छिपाकर, अपनी शक्तिका उल्लंघन न करके इनका पालन करे। यह गृहस्थका प्रधान कर्तव्य है। यद्यपि गृहस्थजन इन तपोंका पूर्णरूपसे पालन नहीं करते, इसी कारण १२ प्रकारके तपोंका आचरण मुनियोंका कर्तव्य कहा गया है, फिर भी अपनी शक्ति माफिक इन तपोंका भी तपना गृहस्थोंका कर्तव्य है।

उक्त दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्सविस्तरम् ॥७४२॥

गृहस्थधर्मके संक्षिप्त वर्णनका उपसंहार—यहाँ तक प्रसङ्गवश कुछ गृहस्थोंके व्रतका वर्णन किया गया है सो वह दिग्दर्शन मात्र है, अर्थात् गृहस्थ किस दशामें व्रतको धारण करता है अर्थात् किस पद्धतिसे गृहस्थोंका व्रत चलता है, इसका संकेत मात्र दिया गया है। विस्तारपूर्वक वर्णन तो उपासकाध्यायका प्रसंग पानेपर कहा जायगा। यहाँ ग्रंथकार अपने एक संकल्पका परिचय दे रहा है। गृहस्थका व्रत बहुत विस्तारपूर्वक कहनेका इसका भाव है, वह कहा जायगा एक स्वतंत्र प्रसङ्ग बनाकर। यह अमूढ़दृष्टि अङ्गका प्रकरण है और वहाँ मूढ़दृष्टि न होनी चाहिए। इस सम्बन्धमें धर्ममें धर्मबुद्धिकी बात कही जा रही है। तो उस प्रकरणके अनुसार धर्म दो प्रकारके होते हैं—(१) गृहस्थधर्म और (२) मुनिधर्म। तो यों प्रसंग आयगा गृहस्थधर्मका, किन्तु विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई स्वतंत्र प्रकरण करके आगे उपासकाध्याय अनुसार कहा जायगा।

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥७४३॥

अनगार संतोंके २८ मूलगुणकी सर्वतः विधेयता—२८ मूल गुण जो ऊपर बताये गए हैं वे गुरुवरोंके इस तरहके मूल गुण हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। मूल बिना वृक्ष ठहर नहीं सकता, इसी तरह मूल गुण बिना मुनि कहला ही नहीं सकता। इस कारण ये २८ मूल गुण अतीत आवश्यक हैं। यों २८ मूल गुणोंमें से मुनियोंके न तो एक भी कम होता है और न इनसे कोई अधिक मूल गुण होता है। जैसे कोई इन मूल गुणोंमें किसीमें भी कमी रखे तो उसमें साधुता नहीं रहती है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रवृत्तिका भी मूल

गुण कहलाने लगे तो यह भी बात नहीं बनती है। तो साधुवोंके जो ऊपर २८ मूल गुण कहे गए हैं वे सबमें समानरूपसे पाये जाते हैं। इसका पहिले बहुत वर्णन किया गया था कि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों प्रकारके गुरु एक ही समान २८ मूल गुणके धारी होते हैं तथा उत्तर गुणोंमें इन सभी गुरुराजोंका प्रयत्न होता है। इस कारण ये तीनों परमेष्ठी गुरुताकी दृष्टिसे समान हैं और ऐसे गुरुमें गुरुबुद्धि करना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥७४४॥

समस्त मूल गुणोंके धारणसे ही मुनिव्रतकी सिद्धि—२८ प्रकारके जो मूल गुण मुनियोंके बताये गए हैं उन मूल गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे पालन करनेसे मुनिव्रतकी सिद्धि होती है। इन मूल गुणोंमें २१ मूल गुण तो आत्मसाधना और आत्मभावसे सम्बन्धित हैं। जैसे ५ महाव्रतोंका पालन, समितियोंका पालन, आवश्यकका पालन, इन्द्रियपर विजय करना और ७ गुण—शारीरिक क्रियावोंके किस तरह उपदेश करें, किस तरहसे शारीरिक निर्वाह करें, उससे सम्बंधित है। जैसे खड़े-खड़े एक बार भोजन करना, केशलोंच करना, स्नान न करना, जमीनपर उठना, सोना आदिक रूपसे निर्वाहकी बातें बतायी गई हैं कि किस तरह वे जीवन का निर्वाह बनायें ? तो ऐसे दोनों ही प्रकारका जहाँ सम्बन्ध है, ऐसे दो मूल गुणोंका समस्त रूपसे पालन किया जाय तब ही वह मुनिव्रत कहलाता है। उनमेंसे कुछ मूल गुणोंका ही पालन करें तो उससे मुनिव्रत अपूर्ण रहता है और जितने अंशमें मूल गुणमें न्यूनता होती है, समझना चाहिए कि उतनी ही मुनिव्रतमें न्यूनता होती जाती है।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥७४५॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञका ॥७४६॥

यतियोंके २८ मूलगुणोंका निर्देश व उत्तरगुणोंका संकेत—वे २८ मूल गुण कौन-कौनसे हैं ? उसका वर्णन उक्त गाथामें किया गया है। ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियका निरोध, ६ आवश्यकका पालन, केशलोच करना, वस्त्रपरित्याग करना, स्नान न करना, पृथ्वी पर सोना, दंतधावन न करना, खड़े-खड़े आहार लेना, एक बार भोजन करना, ये मुनियोंके २८ मूल गुण बताये गए हैं। इन मूल गुणोंमें यह भली-भांति सिद्ध होता है कि २१ कर्तव्य तो आत्मपालनके लिए है और ७ कर्तव्य शारीरिक पालनके लिए हैं। यद्यपि मुनिराज शरीर से भी अत्यन्त विरक्त रहते हैं, शरीरसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनवरत ध्यान रखते हैं, फिर भी संयमकी सिद्धि इस मनुष्यभवमें करना है और असमयमें मृत्यु कर लेनेसे न जाने

कैसा कहाँ जन्म होगा ? समाधिके बिना मरण करनेसे तो जन्म-मरणकी परम्परा ही बढ़ेगी। इस कारण विवेक करके इस शरीरका भी कुछ पालन-पोषण कर लें, तो वह किस प्रकार करना चाहिए, उसके वर्णनमें शेषके ७ गुण बताये गए हैं। इस तरह जो मुनियोंके २८ मूल गुण जैनशासनमें कहे गए हैं वे मूलतः सभी गुरुराजों द्वारा पालन किए जाते हैं, और इसके अतिरिक्त ८४ लाख उत्तर गुण कहे गुण हैं, वे भी गुरुजनों द्वारा धारण किए जाते हैं। यहाँ इतनी विशेषता जान लेनी चाहिए कि मूल गुणोंका पालन तो गुरुजनोंके अतीत आवश्यक है। उसके बिना ये साधु ही नहीं कहला सकते हैं, पर अपने गुणोंका पालन शक्तिके अनुसार होता है। वे शक्तिको नहीं छिपाते हैं। कारण यह है कि जिन गुरुजनोंने यह जाना है कि ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें ज्ञानको मग्न किए जानेपर ही कल्याण सम्भव है और इस ही समाधिबलसे कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है और निर्जरा होनेपर प्राप्त हुए मोक्षमें ही सर्वकल्याण है, अतएव इस मोक्ष कल्याणकी धुन रखने वाले साधुजनोंको और कुछ क्रियायें कैसे सुहा सकती हैं ? तो इस ही धुनमें रहने वाले साधुजन उत्तर गुणोंमें पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करते हैं।

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राऽविशेषतः ॥७४७॥

सागारधर्म व अनागारधर्म दोनोंमें प्राणिसंरक्षणकी मौलिकता—उक्त प्रकार जो श्रावकों और मुनियोंके धर्मका वर्णन किया है इस धर्मके स्वरूप बतानेके प्रारम्भमें धर्म दो प्रकारका है, ऐसा संकल्प करके जो दो प्रकारका धर्म बताया गया है सो उन दोनों प्रकारके धर्मोंमें अर्थात् श्रावक और मुनियोंके धर्मोंमें सामान्य रीतिसे यदि एक मौलिक तत्त्वकी बात कही जाय तो कहनी चाहिए कि अहिंसा व्रत ही मूल गुण है। श्रावकोंने भी अपने गुणोंके पालनमें अहिंसा व्रतकी पुष्टि की है और मुनियोंके मूल गुणोंमें भी अहिंसा व्रतका ही समर्थन किया गया है अर्थात् दोनोंके व्रतोंका उद्देश्य प्राणरक्षा है। गृहस्थधर्ममें तो एक देश प्राणरक्षा की जाती है और मुनिधर्ममें सर्वप्रकारसे प्राणरक्षाकी बात हुआ करती है। ऐसी अहिंसा मिलेगी दोनों धर्मोंके पालनमें। वहाँ मोक्षमार्ग भी चल रहा हैं और शुभ पुण्यबंध भी होता है जिसके कारण जितना संसार शेष रह गया है वहाँ धार्मिक वातावरण मिलेंगे और ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वकी दृष्टि करके कल्याणलाभ हो सकेगा।

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम्।
सर्वमावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥७४८॥

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिके लिये धार्मिक क्रियाओंका वर्णन—२८ मूल गुण और श्रावकों के ८ मूल गुण तथा दोनोंके उत्तर गुणोंमें जो कुछ भी कहा गया है वह सब सावद्य योगकी निवृत्तिके लिए कहा गया है। सावद्य योग कहते हैं प्राणिहिंसा होनेको। तो सभी प्रकारके

इन कर्तव्योंमें प्राणियोंकी हिंसाका परिहार है। अब प्राणिहिंसाका मतलब है स्वकीय प्राण-हिंसाका त्याग और परजीवके प्राणहिंसाका त्याग। रागद्वेष करके अपने आपमें संक्लेश और विषमता बनाना यह तो अपने प्राणोंकी हिंसा है, क्योंकि आत्माका प्राण है शुद्ध चैतन्यभावमें। शुद्ध चैतन्यभावमें शुद्ध चैतन्यभावकी इसमें अरक्षा है और दूसरेके प्राणोंको दुःखाना, उनके भावोंमें संक्लेश दिलाना, यह है परप्राणोंकी हिंसा। सो दोनों प्रकारकी हिंसाकी निवृत्तिके लिए ये सर्व व्रत कर्तव्य बताये गए हैं।

अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्य्यादेशः स एव च।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥७४६॥

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिकी व्रतरूपता—उक्त श्लोकको स्पष्टीकरण रूपसे कहा जा रहा है कि जिन-मतका यह आदेश है कि सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति है और सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिका ही नाम व्रत है। सावद्य नाम है पापकर्मका। रागद्वेष मोह परिणाम उत्पन्न होना यह ही पापभाव कहलाता है। मोहमें पाप करते हुए प्राणियोंको ग्लानि नहीं आती और न वे अपने आपमें पापवृत्तिको समझ पाते हैं। यह तो महापाप है। पाप करते जानेपर भी पाप समझमें न आये, यह तो महापाप कहलाता है। भला कुछ प्रयोजन नहीं इस जीवका कि किसी भी दूसरे जीव या अन्य पदार्थका राग बढ़ाकर कुछ इसको लाभ मिले, लेकिन यह समझता है उस मोहमें अपना लाभ—मैंने बहुत कुछ बात प्राप्त कर ली, मैं बहुत सुखी हो गया, इस तरहकी धारणा बनाकर मोही जीव परजीवोंसे, परवस्तुवोंसे रागको करता है। तो यह है मोहभाव। मोह रागद्वेष ये ही पापभाव हैं और इस पापभावकी प्रेरणासे अन्य जीवों के बध हो जाया करते हैं। तो सर्व साध्ययोगमें जीवका कल्याण नहीं है, अतएव उसकी निवृत्ति हो जानेको ही व्रत कहते हैं। अब वह सर्वसावद्य योग क्या कहलाता है? उसका स्वरूप बतला रहे हैं।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥७५०॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥७५१॥

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिका निरुक्त्यर्थ—सर्वसावद्ययोग शब्दमें ३ शब्द हैं—सर्व, सावद्य और योग। सावद्य शब्दमें भी २ शब्द हैं—स और अवद्य, तो सभी शब्दोंको निषेध्य करते हुए सर्वसावद्ययोगका स्वरूप कहा जायगा। सर्वका अर्थ है अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वृत्ति अर्थात् अन्यदृष्टिसे भी और बाह्य प्रवृत्तिसे भी अवद्य कार्य करना सो तो है सर्वसावद्य और अन्तर्दृष्टि बहिर्वृत्ति दोनोंसे उनका त्याग करना सो है सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति। तो सर्वसावद्ययोगमें सर्व

का अर्थ तो हुआ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग व्यापार और सावद्य शब्दका अर्थ हुआ प्राणोंका छेद करना। अविध सहित जो व्रत है उसका नाम है सावद्य। सावद्यका नाम हिंसा भी कह सकते हैं और योग शब्दका अर्थ है उस सावद्यके विषयमें उपयोग लगाना। इसका अर्थ है सर्वसावद्ययोग। तो ऐसा उपयोग जो पापोंमें लगाया जाता है, प्राणिहिंसामें जो विचारधारा चलायी जाती है तो ऐसा उपयोग दो प्रकारका होता है—(१) बुद्धिपूर्वक उपयोग और (२) अबुद्धिपूर्वक उपयोग। बुद्धिपूर्वक उपयोग तो समझमें आ जाता है और कभी-कभी खुद भी महसूस किया करते हैं कि कार्य करना अनर्थ है, पर सूक्ष्म जो अबुद्धिपुर्वक उपयोग है वह ग्रहणमें नहीं आ पाता है, किन्तु पापबन्ध दोनोंमें चलता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकारके प्राणोंका नाश करनेके लिए अपने उपयोगकी प्रवृत्ति करनेका नाम है सर्वसावद्ययोग। अन्तरङ्ग प्राण है चैतन्य ज्ञानदर्शन सुख शान्ति अनाकुलतापूर्वक रहना। यही है आत्माका धर्म। जो प्राणी इसका जहाँ विघात हो वह कहलाता है अन्तरङ्ग प्राणका विघात अर्थात् हिंसाकी तरफ परिणामोंका लगाना इसका नाम है सर्वसावद्ययोग। और बाह्य प्राणोंका नाश करना यह है बाह्यप्राणविघात। तो अन्तरङ्ग सावद्यप्राण हुआ भावप्राणका विनाश करना और बाह्यसावद्य हुआ द्रव्यप्राणोंका विनाश करना। तो जब बुद्धिपूर्वक ऐसी हिंसा करनेके लिए चित्त उद्यमी होता है तो वह हुआ स्थूलसावद्ययोग और कर्मविपाकवश भाव हो गए, प्रवृत्ति हो गयी प्राणनाशके लिए, पर वे इतना सूक्ष्म हैं कि अज्ञातरूप रह गए। तो अज्ञात भावोंसे हिंसाके लिए परिणामोंका उपयुक्त होना, यह कहलाता है सूक्ष्मसावद्ययोग। तो दोनों प्रकारके सावद्ययोगका दोनों ही प्रकारसे त्याग करना सो सर्वसावद्ययोग निवृत्ति कहलाता है। इस ही निवृत्तिरूप व्रतका स्वरूप कहा जा रहा है।

तस्याभावोनिवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥७५२॥

सर्वसावद्ययोगकी आंशिक निवृत्तिमें आंशिक व्रत व सम्पूर्ण निवृत्तिमें सम्पूर्ण व्रतका प्रतिपादन—उक्त श्लोकोंमें सर्वसावद्ययोगका स्वरूप कहा गया है। उस सर्वसावद्ययोगका अभाव होना, इसका ही नाम निवृत्ति कहलाता है, इस ही को व्रत कहते है। सो यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति अंशरूपसे हो रही है तो व्रत भी अंशरूपसे हुआ, यह कहा जायगा। और वह सर्वसावद्ययोग निवृत्ति सर्वांशरूपसे है। तो वह व्रत भी संपूर्ण है, यह कहा जायगा। जैसे महाव्रतमें सर्व सावद्ययोग निवृत्ति पूर्णरूपसे हुआ करती हैं, वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पाँचों पापोंका पूर्णरूपसे त्याग है। परिग्रहमें अन्तरङ्ग १४ प्रकारके परिग्रह और बहिरङ्ग १० प्रकारके परिग्रह, इन सभी परिग्रहोंका पूर्णतया त्याग है, अतएव वहाँ न भावप्राणकी हिंसा है, न द्रव्यप्राणकी हिंसा है तथा न बुद्धिपूर्वक हिंसा है, न अबुद्धिपूर्वक

हिंसा है। भावोंकी दृष्टिसे ये साधु महाराज निरन्तर विशुद्ध रहते हैं और विशुद्ध भावोंसे इनकी प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिमें कदाचित् कोई जीव मर भी जाय तब भी भावोंकी विशुद्धिके कारण और किसी प्रकारका हिंसाका यत्न रहनेके कारण इनके सावद्ययोग नहीं कहा गया है। तो सर्वसावद्ययोग होनेका मूल कारण तो अंतरंग परिणाम हैं जिसका परिणाम प्रमादयुक्त है, कषायसहित है उसके सावद्ययोग नियमतः है, और जिनके परिणाममें प्रमाद नहीं है, कषायभाव बसा है उनके सर्वसावद्ययोगका मूल कारण नहीं रहा है। तो ऐसे सर्व-सावद्ययोगका मूल हेतु न रहनेके कारण ये गुरुजन सदा सावद्ययोगसे निवृत्त रहा करते हैं, ऐसे सर्वसावद्ययोगके त्यागी तीनों प्रकारके गुरुराज एक समानगुरु हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुवों में गुरुबुद्धि करना सो अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥७५३॥

प्राणिरक्षारूप बाह्य व्रत व कषायत्यागरूप अन्तर्व्रतकी आत्मकृपारूपता—व्रत दो प्रकारके होते हैं—(१) अन्तरङ्ग व्रत और (२) बाह्यव्रत। याने भीतरी परिणामोंमें व्रत और बाहरमें जीवहिंसा न हो सके, इस प्रकारका व्रत। तो प्राणियोंमें दया करना, किसी प्राणीके प्राणोंका विनाश न होने देना, यह तो कहलाता है बाह्यव्रत और अन्तः कषायें न होना, विषयकषायसे परिणामका त्याग होना, यह कहलाता है अन्तरङ्ग व्रत। तो अब यहाँ सोचिये कि अपने आपकी अपने आत्मापर कृपा क्या कहलायेगी ? भीतर विषयकषायोंके परि-णाम न होना और शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव बनाना यह है आत्मापर सच्ची कृपा। तो अन्तर्व्रत आत्मापर सच्ची दया कहलाती है और अन्तर्व्रतके होते सनते बाह्य व्रत भी धर्ममें सहयोगी बनता है। यदि केवल बाह्यव्रत ही हो और भीतरमें विषयकषायोंका त्याग न हो तो वह व्रत नहीं कहलाता।

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥७५४॥

आत्माके ज्ञानादिप्राणोंके घातक होनेसे रागादि भावोंकी स्पष्ट हिंसारूपता—रागा-दिक भाव लोकके असंख्यातप्रमाण हैं अथवा असंख्यात लोकप्रमाण हैं, याने सारे लोकमें जितने प्रदेश पाये जाते हैं वे असंख्यात हैं, और ऐसे-ऐसे असंख्यात लोकके प्रदेश भी मिला लो तो जितने भी प्रदेशोंकी गणना होगी उतनी प्रकारके कषायभाव पाये जाते हैं। जैसे एक क्रोध कषायको ही देख लो—किसीमें किसी किस्मका क्रोध है, किसीमें अन्य किस्मका और उनकी डिग्रियाँ देख लो—किसीमें छोटी कषाय है, किसीमें बड़ी। तो ऐसे कषायके भेद प्रभेद असं-ख्यात प्रकारके होते हैं, और जब तक ये असंख्यात लोकप्रमाण रागादिक भेद रहते हैं तब तक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका विनाश होता रहता है। इस कारणसे उसमें आत्माकी हिंसा

होती रहती है । तो आत्महिंसा करने वाले जो विषयकषायके परिणाम हैं, ये ही भाव हिंसा कहलाते हैं । भावहिंसा बहुत विकट हिंसा है जिससे यह आत्मा अपने भीतर ही प्राणोंको पीड़ता हुआ, ज्ञानदर्शनका विराधन करता हुआ यह जीव दुःखी रहा करता है । तो भावहिंसा से इस जीवकी हानि है । तो जीवको क्लेश क्या है जगतमें ? यही क्लेश है कि जीव अपनी भावहिंसा किए जा रहा है, भावमरण किए जा रहा है अर्थात् ऐसे विषकषायोंके परिणाम करता है कि जिन परिणामोंमें इसके ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक सभी नष्ट होते चले जा रहे हैं । कोई सोचे कि मैं किसीका जीवन नहीं करता, किसीका मरण भी नहीं करता, केवल अपने घरमें रहता हूं, स्त्री पुत्रोंके बीच मौजसे बना रहता हूं तो हमें हिंसा नहीं लगती है, तो ऐसा न सोचना चाहिए, भीतरमें जो ये रागादिक भाव बन रहे हैं वे इस आत्माकी हिंसा कर रहे हैं, इसलिए आत्मापर दयाधारियोंके मोह रागद्वेषके परिणाम नहीं होते ।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥७५५॥

रागादिभावोंकी हिंसारूपता, अधर्मरूपता व अव्रतरूपता तथा रागादिपरित्यागकी अहिंसारूपता, धर्मरूपता व व्रतरूपता—रागद्वेषके परिणाम होना ही हिंसा कहलाती है । बाहरमें जीव मरे अथवा न मरे, यदि किसीने मारनेका परिणाम कर लिया तो समझो हिंसा कर ली । और मुनि महाराज किसीको मारनेका भाव नहीं रखते, सर्व जीवोंपर दयाभाव रखते और वे दयाके भावसे ही समितिपूर्वक विहार करते । कदाचित् विहार करते हुएमें कोई क्षुद्र प्राणी पैरोंके नीचे आकर मर जाय, मुनि महाराजको पता ही न पड़े, तो उसमें उनको हिंसाका दोष इस कारण नहीं लगता कि उनके भावोंमें कुछ भी फर्क नहीं आया । तो रागद्वेष मोह भाव उत्पन्न होना ही हिंसा है । अब यह समझ लो कि हम अपनी कितनी हिंसा निरन्तर किए जा रहे हैं ? निरन्तर क्लेश संक्लेश रागद्वेष कषाय जगें, ईर्ष्याभाव हों, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक बने हुए हैं तो हम अपने आपकी कितनी हिंसा किए जा रहे हैं । इस हिंसाका फल है कि इस आत्माका विकास नहीं हो सकता । यह जीव कीड़ा-मकोड़ा जैसी कुयोनियोंमें उत्पन्न होता रहता है । तो यह है भावहिंसा । इस भावहिंसामें जीवकी बड़ी विडम्बना बनती है । तो रागादिक भावोंका होना ही भावहिंसा है और भावहिंसाका ही नाम अधर्म है । अधर्म कहो या व्रतसे च्युत होना कहो—आत्माका जो शीलस्वभाव है, आनन्दका घर है उस आनन्दधाम आत्मतत्त्वसे चिग जाना और दृष्टि बाहरी पदार्थोंकी ही रहना, यह कहलाता है हिंसा । ऐसी हिंसा जहाँ नहीं होती है उसे अहिंसा कहते हैं । अहिंसा ही धर्म है अथवा व्रत है । कहा ही है कि अहिंसा उत्कृष्ट धर्म है, पर अहिंसाका अर्थ क्या है ? अपने आपमें खोटे भाव न लाना, रागद्वेष मोहके परिणाम न होने देना, यह अहिंसा है, और यह

अहिंसा जीवकी रक्षा करने वाली वास्तविक माता है।

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतम्।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परञ्च तत् ॥७५६॥

स्वपरप्राणरक्षामें स्वात्मरक्षा—धर्मके सम्बन्धमें यह समझ लीजिए कि यदि रागद्वेष मोहभाव नहीं होता है तो वही वास्तवमें धर्म है, अहिंसा है, दया है। कभी कोई दूसरे प्राणी पर भी दया करता है, दूसरेके शरीरकी रक्षा करता है, उनके प्राणोंको रहने देनेका यत्न करता है तो उस प्राणिदयामें, उस दूसरे जीवोंकी रक्षामें भी अन्तः खुदकी दया पड़ी हुई है, इसलिए खुदकी दया करनेसे अहिंसा हुआ करती है। अपनेसे भिन्न दूसरे जीवोंके, मनुष्योंके, पशु-पक्षियोंके शरीरकी जो रक्षाबुद्धि करता है अहिंसामें, दया करनेमें, तो वह भी अपने आत्मा की रक्षाके लिए ही है, क्योंकि दूसरे जीवके घातका भाव नहीं किया और उसकी रक्षाका भाव किया। तो अपना परिणाम शुद्ध रहे, शुभ रहे तो अपना परिणाम भला हो जानेसे अपनी रक्षा हुई, और जहाँ अपना परिणाम बिगड़ गया वहाँ अपने आपकी हिंसा हो गयी। दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिए जो उद्यम किया जाता सो भली-भाँति परख लीजिए कि वह शुभ परि-णामोंका कारण है। यदि अपने आपमें शुभ परिणाम हुए हैं, तो दूसरे जीवोंकी रक्षाका भाव बनेगा, अन्यथा ऐसे क्रूर मनुष्य पाये जाते हैं कि निरपराध मनुष्योंकी जान तक ले डालते हैं। तो जिसके भावोंमें ऐसी क्रूरता बसी है उसके निरन्तर हिंसा लग रही है और जिसका परिणाम शुभ है तो उसकी अपने आपकी रक्षा हो रही है। तो जो पुरुष दूसरेपर दया करता है वह अपने आपपर दया करता है। उसके फलसे यह खुद भी बड़े लाभमें रहेगा, इस कारण दूसरे जीवोंकी दया करना भी अपने आपकी दया करनेके लिए ही है, ऐसा जानना चाहिए।

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात्।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥७५७॥

रागादिभावोंके होनेपर कर्मबन्ध व कर्मोदय होनेपर आत्मपीड़ा होनेके कारण रागा-दिभावोंकी स्वात्मबधकारिताकी सिद्धि—रागादिक भावोंके होनेपर अवश्य ही कर्मका बन्ध होता है और उस कर्मबन्धका जब उदय आया, जो कर्म बँध गये वे सत्तामें रहते हैं जब तक कि उनका विपाक समय नहीं आता। जब उनका विपाक समय आता है तो उस विपाकमें आत्माको फिर दुःख होता है। और इस कारणसे रागादिक भावोंसे अपने आत्माका घात होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है। और अधिक नहीं तो यह समझ लीजिए कि आत्माका घात यही है कि जो आत्मा दुःखोंमें बना रहता है, संक्लेशमें रहे, विपदा माने, भय खाये, अनेक तरहकी भीतरमें वेदनायें बनाये, यह ही तो आत्माका बध है। तो आत्माका ऐसा बध हुआ क्यों ? अर्थात् अपने आपको जो विपत्ति वेदना आयी, जो अपनेको पीड़ा उत्पन्न हुई तो

यह पीड़ा ही खुद समझ लीजिए कि यह ही मेरी बरबादी है। तो ऐसी पीड़ा होनेरूप बरबादी जीवकी हुई कैसे ? इस बातपर विचार करें। यह पीड़ा मुझे हुई है कर्मके उदयसे। और कर्म का उदय हुआ क्यों ? यों हुआ कि कर्मोंका बन्ध किया था। तो जो कर्म बँध गए, सत्तामें हैं उनका उदय तो कभी आयगा। उदय मायने निकलना। जब कर्म निकलेंगे, उनका उदय होगा तो उस कालमें जीवको दुःख होगा। तो कर्मोदयसे हुआ दुःख और कर्मोदय हुआ बन्धके कारण और बन्ध हुआ अपने बुरे परिणामके कारण, रागद्वेष मोहके कारण। तो इससे समझ लीजिए कि रागद्वेष मोह करनेमें अपने आपकी हिंसा करते हैं, इस कारण विषय कषाय जो आत्माका अहित करने वाले हैं उनसे अपने आपको बचाये रहना, यही वास्तवमें धर्म है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥७५८॥

मोहकर्मके अनुदयमें आविर्भूत शुद्धोपयोगके ही चारित्रत्वकी निश्चयसे सिद्धि—उक्त विवेचनमें यह बात भली भाँति सिद्ध कर दी गई कि रागादिक भावोंके उत्पन्न होनेका नाम हिंसा है और रागादिक भाव न उत्पन्न हों तो इसका नाम अहिंसा है। तो रागादिक भाव यद्यपि दो प्रकारके हैं—(१) शुभराग, (२) अशुभराग। शुभरागसे होता है पुण्यबंध और अशुभरागसे होता है पापबंध, लेकिन आत्माके ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुणोंका घात तो रागादिक मात्रसे हो जाता है। इस कारण शुभराग अथवा अशुभराग ये दोनों ही आत्माके हितकारी चीज नहीं हैं। तब यह निर्णय करना चाहिए कि मोहनीयकर्मका उदय जहाँ नहीं रहा, और आत्माका शुद्धोपयोग बने याने रागद्वेष न होकर केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप निजो अन्तःअनुभव हो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अनुभव करने वालेको फिर परपदार्थोंकी परिणति के कारण किसी प्रकारके क्लेशका अनुभव नहीं होता। जैसे मानो दुनिया विरोधमें पड़ती है, निन्दा कर रही है, तो यह सोचता है कि यह दुनिया जिसको जान रही है वह मैं नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं, इसका लोगोंको परिचय है कहाँ ? तो लोग जिसका लक्ष्य करके कह रहे हों उसकी कह रहे हैं, मैं तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, ऐसे इस ज्ञानमात्र सहज सत्त्वरूप मुझ आत्माको लोग पहिचानते ही नहीं हैं। लोग मेरा क्या विरोध करेंगे ? अथवा मुझको क्या कह सकेंगे ? मैं तो उससे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। जिसने अपने अन्तःस्वरूप का परिचय पाया है उसको दूसरेकी परिणतिका कोई खेद नहीं होता है, और इसी कारण प्रशंसा सुनकर भी यह रागमें हर्ष नहीं मानता है। लोग जिसे देखकर प्रशंसा कर रहे हैं वह तो मैं हूं ही नहीं। मैं तो एक ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा हूं। तो जिसने अपने अन्तःस्वरूपका परिचय पाया है उसको क्लेश नहीं होता। तो मोहनीयकर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका नाम चारित्र है और वही वास्तवमें उत्कृष्ट व्रत कहलाता है।

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥७५६॥

चारित्रकी निर्जराहेतुरूपता——यह चारित्र निर्जराका कारण है । चारित्रका अर्थ है-- आत्माका जैसा सहज ज्ञानस्वरूप है उस सहज ज्ञानस्वरूपमें रम जाना, इसको कहते हैं चारित्र । जो पुरुष ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानमें रम रहा है अर्थात् जिसके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप यह अंतः आत्मतत्त्व समाया हुआ है उसके कर्मनिर्जरा होती ही है । तो चारित्र निर्जराका कारण है, यह बात आगमसे अबाधित रूपसे सिद्ध है । यह चारित्र ही स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ है । स्वार्थक्रियाका अर्थ है कि आत्माका आनंद प्रकट होना, आत्माकी शुद्धि प्रकट होना, कल्याण होना, यह बात इस चारित्रसे बनती है, इस कारण यह चारित्र क्रियाकारी है । जैसे दीपक का अर्थ है—जो दीप दे, प्रकाश दे, दीप्त कर दे, तो यह दीपक प्रकाशन क्रियाका यथार्थ नाम वाला दीपक है । इस प्रकार यह चारित्र जो आत्मस्वरूपमें रमा दे, जिसके कारण कर्मों की निर्जरा होती है, तो कर्मनाश क्रिया करनेमें यह चारित्र समर्थ है, इस कारण ही चारित्र को क्रियाकारी कहा गया है ।

रूढः शुभोपयोगोपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥७६०॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत ॥७६१॥

नापकारोपकारकृत शुभोपयोगकी रूढ़िसे चारित्रसंज्ञा——शुभोपयोगमें भी सिद्धान्त ग्रन्थोंमें चारित्र कहा गया है शुभोपयोगमें । यह भी उपचारसे कहा गया है । कारण यह है कि जो शुभोपयोग करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसके साथ अंशरूपमें शुद्धोपयोग भी चल रहा है । अतएव उस आंशिक शुद्धोपयोगको साहचर्यसे शुभोपयोग कहा जाता है । शुभोपयोग का जो अर्थ है उसका जो वाच्य बनता है उसका चारित्र किस रूढ़िसे समझना चाहिए ? तो रूढ़िसे शुभोपयोग भी चारित्र कहा जाता, पर शुभोपयोगका जो सही अर्थ है, रागांशको बताने वाला है, ऐसा वह शुभोपयोग चारित्र स्वार्थक्रियाके करनेमें समर्थ नहीं है, भले ही शुभोपयोगको चारित्र कहा गया है । अशुभोपयोगसे निवृत्त होना और शुभोपयोगमें प्रवृत्त होना चारित्र कहा गया है तो परके साहचर्यसे कहा गया है, पर वह चारित्र नहीं, उसमें विशिष्ट पुण्यका बन्ध है, पर कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो रही है । उसके साथ मिले हुए आंशिक शुद्धोपयोगका प्रताप है, तो रूढ़िसे कहा जाने वाला यह शुभोपयोग चारित्र कर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ नहीं है । इस कारण इसको चारित्र नहीं कहा । सारांश यह है कि "किसी भी प्रकारका रागद्वेष न हो, अत्यन्त विकल्परहित अवस्था बने तो ऐसी स्थितिमें आत्माका जो शुद्ध सहज

ज्ञानस्वरूप है उसका अनुभव प्रकट होता है और उस अनुभवमें भव-भवके कर्मोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य पड़ा हुआ है । तो निश्चयसे चारित्रका कारण तो शुद्धोपयोग है, शुभोपयोग रूप चारित्र कर्मनिर्जरा करनेमें समर्थ न होनेसे यथार्थ चारित्र नहीं है । वह तो शुभ कर्मबंध का कारण है, अतएव उसे तो आत्माका विपक्षी कहा जाना चाहिए । इस शुभ प्रवृत्तिको श्रेष्ठ चारित्र नहीं कहा जा सकता । यह शुभोपयोग आत्माका उपकार करनेमें समर्थ नहीं है, और साथ ही यह भी समझना चाहिए कि आत्माका यह अपकार भी नहीं करता है । देखिये—इन शब्दोंमें कितना रहस्य समझा दिया ? देवपूजा करना, प्रभुभक्ति करना, जाप, सामायिक आदि करना, स्वाध्याय करना, पात्रदान करना आदिक । जो श्रावकोंके किए जानेसे आत्माका यदि कर्म निर्जरारूप उपकार नहीं होता तो इसका अपकार भी नहीं होता । आत्मामें सावधानी तो रहती है, अच्छे भावोंकी ओर तो बना हुआ है, पात्रता तो उसमें बनी हुई है कि किसी भी समय रागद्वेषादिकके विकल्प शान्त हों । तो वह अपने आत्माका शुद्ध अनुभव कर सकता है, जिस कारण शुभोपयोगको अपकारी भी नहीं कहा जाना चाहिए, किन्तु अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिए शुभोपयोग ढालके समान है और शुद्धोपयोग कर्मनिर्जरा करनेके लिए शस्त्रके समान है । जैसे शुद्ध करने वाले सुभटको ढाल और तलवार दोनोंकी आवश्यकता होती है । ढाल तो शत्रुके आक्रमणका बचाव करने वाला होता है और तलवार शत्रुपर प्रहार करने वाला होता है, इसी तरह हम आपकी जो शुभ व्रतक्रियायें हैं—दर्शन, पूजन, व्रत संयम आदिक ये सब अशुभोपयोगरूप शत्रुको दूर करनेमें ढालकी तरह काम करती हैं । जब शुभोपयोगमें हमारा चित्त लगेगा तो अशुभ क्रियाकी बात न होगी । तो अशुभ, खोटे भावोंको इसने बचा दिया, दूर कर दिया तो शुभोपयोगने ढालका काम किया और जब रागद्वेषरहित आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप जब ज्ञानमें आ रहा है तो अविकार ज्ञानस्वरूप ज्ञानमें आया, उस स्थितिको कहते हैं शुद्धोपयोग । तो इस शुभोपयोगके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें दूर हो जाते हैं । तो हम आपको दोनोंका सहारा लेनेकी इस समय स्थिति है । शुभोपयोग भी करें, किन्तु ध्यान अपना यही बनायें कि शुभोपयोगसे भी हटकर हमें शुद्ध निर्विकार ज्ञानस्वरूपके उपयोगमें रहना चाहिए । तो इस तरह शुभोपयोग रूप ढाल से खोटे परिणाम रूप शत्रुसे अपना बचाव करते हुए शुद्धोपयोगरूप तीक्ष्ण शस्त्रसे इन कर्मशत्रुओंका विनाश कर लेना चाहिए ।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्रसंभवात् ॥७६२॥

शुभोपयोगकी विरुद्धकार्यकारिता—यहाँ बात बतायी जा रही है कि शुभोपयोग विरुद्ध क्रिया करने वाला है । उपयोग कहते हैं अपना चित्त लगानेको । जहाँ ज्ञान लगाया, बुद्धि

जुड़ी, जहाँ अपनी बुद्धि लग रही है उसे कहते हैं कि उपयोग लग रहा है। तो उपयोग होते हैं तीन प्रकारके—(१) शुभोपयोग, (२) अशुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पापोंमें रहनेका नाम है अशुभोपयोग। सप्तव्यसन, ईर्ष्या, मात्सर्य, कषाय आदिक जहाँ इन्द्रियविषयोंका पोषण होता है वह कहलाता है अशुभोपयोग। तो अशुभोपयोग तो बहुत ही गंदी वृत्ति है, इसके कारण कुयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। संसारमें रुलनेका कारण यह अशुभोपयोग ही तो है। दूसरा है शुभोपयोग। देव, शास्त्र, गुरुमें श्रद्धा करना, वहाँ ही प्रीति भक्ति रखना, धर्मके हेतु अपना तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करना और देवमें देवबुद्धि, धर्ममें धर्मबुद्धि और गुरुमें गुरुबुद्धि करना, व्रत संयमसे रहना, दुःखी जीवों पर दया रखना—यह सब शुभोपयोग कहलाता है। सो शुभोपयोग कर्मकी निर्जरा करनेमें तो समर्थ नहीं है, क्योंकि इसके साथ रागांश लगा हुआ है, लेकिन शुभोपयोगके होनेसे वह अशुभोपयोग तो दूर हो गया। अब पापरूप परिणाम तो न रहे, तो शुभोपयोग एक ढालकी तरह है। इसने अशुभोपयोगसे रक्षा की, लेकिन कर्मनिर्जरा तो न हो सकी। कर्मनिर्जरा होगी आत्माके शुद्धस्वरूपकी दृष्टिसे। लोग इतनेमें तृप्त हो जाते हैं कि मैंने पूजा कर लिया और बोल दिया कि अष्टकर्मोंके विध्वंसके लिए धूप चढ़ाता हूं तो इससे कहीं कर्मोंका ध्वंस नहीं होता। वह अशुभोपयोगकी बात है। उस क्रियासे अशुभ गंदे पापका बचाव हो गया, इतनी बात तो युक्त है, पर उस शुभोपयोगमें यह सामर्थ्य नहीं है कि कर्मोंकी निर्जरा कर दे, बल्कि शुभोपयोगसे पुण्यबंध हुआ और पुण्यबन्धसे होगा क्या कि उसका जब उदय होगा तो देव बनेंगे अथवा राजा-महाराजा बनेंगे, भोगसामग्री मिलेंगी तो उससे मोक्षकी बात तो नहीं मिल सकती, इस दृष्टिसे बताया जा रहा है कि शुभोपयोग विरुद्ध क्रिया करता है। जैसे घी का लगाना तो ठंडक पहुंचानेके लिए है, लेकिन वही घी अगर गर्म हो जाय तो उसकी छींट भी शरीरपर पड़ जाय तो बहुत बड़ा संताप उत्पन्न करती है। तो जो घी ठंडक पहुंचानेके लिए होता है वही गर्म होनेपर संताप उत्पन्न करता है। इसी तरह रक्षण मिलनेके कारण यह शुभोपयोग त्यागरूप धर्म भी कर्मनिर्जरा नहीं कर पा रहा है, किन्तु पुण्यबंध कर रहा है और उसके उदयमें जीवको जन्म-मरण ही करना पड़ेगा। उससे कहीं कर्मनिर्जरा न होगी, मोक्ष न प्राप्त होगा। इस कारण शुभोपयोगको विरुद्ध क्रियाकारी ही बताया गया है। सारांश यह है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग इन दोनोंसे दूर होकर अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें रहनेमें ही आत्माका हित है।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः।
अस्ति नाबंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६३॥

शुभोपयोगमें निर्जराहेतुत्वका अभाव—कोई ऐसी शङ्का न करे कि शुभोपयोग निर्जरा

का हेतु ही किसी अंशमें हो जाता है। यदि किसीके ऐसो शङ्का होती हो तो उसे बुद्धिका दोष ही समझना चाहिए। कारण यह है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही निर्जराके कारण तो हैं ही नहीं, किन्तु सम्वरके भी कारण नहीं हो सकते। शुभोपयोग तो शुभ बन्धका कारण है, अशुभोपयोग अशुभ बन्धका कारण है। दोनों ही कर्मबन्धके कारण हैं और कर्मबंध जितने हैं वे सब आत्माके लिए अहितरूप हैं। तो यों शुभोपयोग कर्मनिर्जराका कारण नहीं और कर्मसम्वरका भी कारण नहीं है, शुभोपयोगमें जो शुभपना आया है वह रागांशके कारण आया है। हाँ, किसी शुभ शिवस्वरूप सत्त्वमें उसका उपयोग लगा है, पर लगा है रागपूर्वक, अतएव रागांशका साहित्य होनेसे वह शुभोपयोग कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वरका कारण नहीं है।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञक ॥७६४॥

कर्मादानक्रियारोधरूप स्वरूपाचरणकी धर्मरूपता, शुद्धोपयोगरूपता व चारित्ररूपता—कर्मोंके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना, इस ही का नाम स्वरूपाचरण है। जो स्वरूपाचरण चारित्र है वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही वास्तवमें यथार्थ चारित्र है। स्वरूपाचरणका अर्थ है कि स्वरूपमें आचरण करना, तो उपयोग स्वरूपमें रम जाय, वहां रागद्वेषकी वृत्ति न जगे, इसको ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। जिस आत्माके स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है उसके कर्मोंके ग्रहणकी क्रिया रुक जाया करती है। तो स्वरूपाचरण चारित्र होनेपर कर्मबन्ध करनेकी क्रिया नहीं रहती है। यही धर्म है, क्योंकि आत्मा यहाँ अपने कैवल्यको अनुभवने वाला बन गया। द्वितीय पदार्थको ग्रहण करनेका सम्पर्क न रहा, इसी कारण इसे शुद्धोपयोग भी कहते हैं। जो शुद्धोपयोग है, जहाँ रागद्वेषकी वृत्ति नहीं जगती है, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति है, ऐसे स्वरूपको ही चारित्र कहा करते हैं। तो यथार्थ चारित्रका स्वरूपाचरण स्वरूप है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥७६५॥

मोहक्षोभविहीन आत्मपरिणामरूपता व धर्मरूपता—अन्य ग्रन्थोंमें भी चारित्रका इसी तरह वर्णन किया गया है। चारित्र निश्चयसे धर्म होता है और धर्म वही हो सकता है जो उपशमरूप हो। रागद्वेष न जगकर केवल एक समतारूप जो बन रहा हो उस ही को चारित्र कहते हैं, ऐसा यह चारित्रमोह और क्रोधादिकसे रहित है तो आत्माका ऐसा परिणमन जहाँ मोह और क्रोध न हो वही आत्माका धर्म कहलाता है। विकार भाव दो तरहके होते हैं—(१) दर्शनमोहनीकृत, (२) चारित्रमोहनीकृत। दर्शनमोहकृत विकार है मोहभाव और

चारित्रमोहकृत विकार है रागद्वेष भाव। रागद्वेष चारों कषायरूप हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इनमें क्रोध और मान ये द्वेषरूप कषायें हैं, माया और लोभ ये रागरूप कषायें हैं। तो यों सर्वप्रकारके रागद्वेष भावोंसे रहित हो जाना, ऐसा जो आत्माका उपयोग है वह धर्म बताया गया है। तो स्वरूप समवस्थान नामक परिणति ही कर्मनिर्जराका कारण है और वही चारित्र कर्म सम्वरका कारण है। इससे यह ही निर्णय करें कि इससे ही कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वर होता है।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥७६६॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे मोक्षपद्धति होनेसे केवल चारित्रको धर्म कहे जानेके अनौचित्यको शंकाकारकी आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि मोक्षमार्ग तो सिद्धान्त ग्रन्थोंमें बताया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके द्वारा मोक्षमार्ग होता है अर्थात् तीनोंको मिलकर मोक्षमार्ग कहा है। जहाँ ये तीनों ही मिलें सो मोक्षमार्ग है। व्यस्तको नहीं बताया गया अर्थात् खाली सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो या केवल सम्यक्चारित्र हो उसे मोक्षमार्ग नहीं कहा गया है। फिर इस प्रकरणमें केवल चारित्रमात्रको मोक्षमार्ग क्यों कहा जा रहा है अथवा केवल चारित्रकी बात बतानेसे क्या प्रयोजन है? जो उक्त प्रकरणमें बताया है कि चारित्रसे कर्मकी निर्जरा होती है, कर्मका सम्वर होता है, तो निर्जरा और सम्वाकर होना ही मोक्षमार्ग है। तो मोक्षमार्ग केवल सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्रसे नहीं कहा गया है, फिर यहाँ चारित्र मात्रकी बात बतानेसे कौनसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है? इस कारण केवल चारित्रसे सम्वर निर्जरा न कहना चाहिए, किन्तु रत्नत्रयसे सम्वर निर्जरा कहना चाहिए।

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥७६७॥

सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शङ्काका इस श्लोकमें समाधान किया गया है। शंकाकारने जो यह कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस तरह अलग-अलग रहकर मोक्षमार्ग नहीं बताया गया है, सो तो ठीक है, लेकिन यहाँ यह दृष्टि देनी चाहिए कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्रके अन्तर्गत हैं। जहाँ सम्यक्चारित्र कहा जाय वहाँ सम्यग्ज्ञान तो स्वयं सिद्ध होता है और इस तरह इन तीनोंका अविनाभावी होनेके कारण इन तीनोंका होना खंडित बना हुआ है। और भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो यह विदित होगा कि जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी किसी अंशमें पाये ही जाते हैं। जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्य-

ग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी किसी अंशमें पाये ही जाते हैं, और जहाँ सम्यक्चारित्र है वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी किसी अंशमें पाये जाते हैं। तो चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका स्वयं ही ग्रहण हो जाता है। तो इन तीनोंकी अविनाभाविता होनेके कारण ये अखण्डित रूपसे तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि इन तीनोंमें पूर्णता क्रमशः बतायी गई है, सम्यग्दर्शन पूर्ण पहिले होता है, उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान पूर्ण होता है और सम्यक्ज्ञान पूर्ण होनेके पश्चात् सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। जिसे गुणस्थानके क्रमसे भी इस तरह कहा जा सकता है कि सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता क्षायिक सम्यक्त्वमें मानी गई है और वह चौथे गुणस्थानसे लेकर ७वें गुणस्थान तकमें कहीं भी हो सकती है। सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता १३वें गुणस्थानमें मानी गई है और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता १४वें गुणस्थानके अन्तमें मानी गई है। तो इस तरह पूर्णताकी दृष्टिसे इन तीनोंमें यह क्रम बताया गया है, लेकिन जहाँ सम्यग्दर्शन है उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। तो ये तीनों हो एक साथ रहा करते हैं। इनमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। कोई यहाँ ऐसी शङ्का रख सकता है कि सम्यक्चारित्रकी पूर्णता तो जहाँ मोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है वहाँ माना जाना चाहिए। मोहनीयकर्मका समूल नाश हो जाता है १०वें गुणस्थानके अन्तमें। तो सम्यक्चारित्र पूर्ण सम्यक् होता है १२वें गुणस्थानमें और सम्यग्ज्ञान पूर्ण हुआ करता है १३वें गुणस्थानमें। जहाँ कि केवलज्ञान होता। फिर पूर्णताका यह क्रम सही कैसे कहा जा सकता है? समाधान इसका यह है कि सम्यक्चारित्रकी पूर्णता मोहके नष्ट हो जानेपर भी तब तक नहीं मानी गयी है जब तक योग मौजूद है। मोह और योग दोनोंके होनेसे चारित्रमें कमी आती थी। तो यद्यपि मोह नष्ट हो गया, लेकिन मोहके साथ रहने वाला योग जब तक मिलेगा तब तक चारित्रकी पूर्णता नहीं कहलाती। इस कारण सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता होनेपर ही सम्यक्चारित्रकी पूर्णता माननी चाहिए। इस तरह पूर्णतामें भले ही क्रम बना हुआ है, किन्तु सम्यग्दर्शनके प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साथ ही रहते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है। अतएव जहाँ यह कह दिया कि चारित्रसे कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वर होता है वहाँ तीनोंसे ही कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वरकी बात समझ लेनी चाहिए।

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥७६८॥

सम्यग्दर्शनमें ज्ञान व चारित्रकी समीचीनताकी हेतुता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें प्रधानता सम्यग्दर्शनकी है। यह क्योंकि ज्ञान और चारित्रकी एकताका कारण सम्यग्दर्शन ही है। और यह कारण पाकर केवल सम्यक्विशेषणकी अपेक्षासे जानना, कहीं ऐसा नहीं है कि सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करने वाला सम्यग्दर्शन हो। ज्ञान तो

ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही प्रकट होता है, पर जैसे ज्ञानमें समीचीनता आती है सम्यक्त्वके साथ हो जानेसे, इसी तरह सम्यक्चारित्र तो प्रकट होता है कषायोंके क्षयसे ही, लेकिन चारित्रमें समीचीनताका हेतु बनता है सम्यग्दर्शन। तो इस प्रकार इन तीनोंमें भी सम्यग्ज्ञान प्रधान है, क्योंकि ज्ञान और चारित्रमें समीचीनता लानेके कारण सम्यग्दर्शन है। जिस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिसे पहिले जो ज्ञान चल रहा था वह ज्ञान वस्तुके स्वरूपके अनुरूप ही था, लेकिन सम्यक्त्व न होनेसे उसमें अनुभवकी दृढ़ता न थी। अब सम्यक्त्व न होनेसे, उस अनुभूतिके होनेसे ज्ञानकी समीचीनतामें दृढ़ता आ गयी। इस कारण वही ज्ञान जो सम्यग्दर्शनसे पहिले भी बन रहा था निकट पहिले, वह सम्यग्ज्ञान हो गया है सम्यग्दर्शनका साथ पा लेनेसे। इस तरह दर्शन ज्ञान और कारणमें प्रधान अङ्ग माना गगा है।

अर्थोयं साति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत्।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥७६९॥

सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञान व चारित्रमें नवीनताका अभ्युदय—उक्त विवेचनका सारांश यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान और चारित्र सम्यक्विशेषणको धारण कर लेते हैं अर्थात् ज्ञान और चारित्रमें एक नवीनता आती है सम्यक्पनेकी। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें सम्यक्त्व कारण है अर्थात् इनका सम्यक्पना हो जाय इसमें सम्यग्दर्शन हेतु है। तो सम्यक्त्व तो कारण हुआ और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये कार्य हुए। अनुमान सिद्धान्तमें यह बताया गया है कि कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है। जैसे अग्नि कारण है, धूम कार्य है, तो धूमकार्य देखकर अग्निकारणके सद्भावका परिचय कर लिया जाता है। तो यहाँ कार्य हुआ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। तो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनसे सम्यक्त्व कारणका अनुमान हो ही जाता है। इस तरह सम्यक्चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव स्वतःसिद्ध हो जाता है। तब शङ्काकारकी यह शङ्का कहना कि जब तीनों ही मोक्षमार्ग बताये गए हैं तो केवल चारित्रका ही निरूपण क्यों किया गया? यह शङ्का संगत न रही, क्योंकि चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव हो ही जाता है।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वं शुद्धो भावोऽथवापि ॥७७०॥

शुद्धात्मोपलब्धिशक्ति व ज्ञानातिशायिनी लब्धिकी सम्यक्त्व होनेपर अवश्यंभाविता—आत्माकी जो शुद्ध उपलब्धि होती है उसमें कारण है ज्ञानके अतिशय वाली लब्धि। अर्थात् मतिज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें अवश्य है, किन्तु ऐसे अतिशय वाली लब्धि विशिष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम अथवा स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम सम्यग्दर्शन

के होनेपर ही होता है। आत्मा जैसा सहज ज्ञानस्वभावरूप है उसरूप परिचय हो जाना, यह स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमके प्रसादसे होता है। तो ऐसे स्वपरिचयकी लब्धि सम्यग्दर्शन के होनेपर ही हुआ करती है। इससे सम्यग्दर्शनकी महिमा विदित होती है। साथ ही यह भी सुविदित हो जाता है कि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। इस तरह जहाँ सम्यग्ज्ञान कहा जाय वहां सम्यग्दर्शनका तो समावेश हो ही जाता है। और जहाँ सम्यक्-चारित्र कहा जाय वहाँ भी सम्यग्दर्शनका समावेश हो जाया करता है। इस तरह केवल चारित्रका निरूपण भी किया जाय तो उस निरूपणसे भी सम्यग्दर्शनकी प्रसिद्धि हो ही जाती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥७७१॥

सम्यक्त्वरहित चारित्र व ज्ञानमें कर्मबन्धकृत्वके अभावका अभाव—अब और भी कह रहे हैं कि जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह सम्यग्दर्शन रहित है तो उसे नहीं कहा जा सकता और न चारित्र ही कहा जा सकता। ऐसा वह द्रव्य चारित्र याने मन, वचन, काय की क्रियायें वे केवल कर्मबन्धके कारणभूत ही होती हैं। सम्यग्दर्शनकी कैसी महिमा है कि सम्यक्त्वके होते ही मतिज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है अथवा ये साथ ही सब होते हैं जिस क्षयोपशमके कारण स्वानुभूति प्रकट होती है, और सम्यग्दर्शनके होते सनते जो ज्ञान और चारित्र हैं वह वास्तविक ज्ञान और चारित्र होता है। सम्यक्त्वके अभावमें जो भी ज्ञान और चारित्र है वह वास्तविक ज्ञान और चारित्र नहीं है। इस तरह ज्ञान और चारित्र के सम्यक् होनेमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, कारणभूत है, ऐसा सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रके अन्तर्गत ही है, इस कारण केवल चारित्रका निरूपण करनेसे तीनोंका ही निरूपण हो जाता है। जहाँ चारित्रको सम्वर निर्जराका कारण कहा गया है वहाँ तीनों ही सम्वरनिर्जराके कारण हैं यह सिद्ध हो जाता है। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो ऐसे लौकिक ज्ञानके होनेपर या आत्माके सम्बंध में भी कुछ ज्ञान बनाया जानेपर भी कर्मबंध रुकता नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके न होने पर अनशन ऊनोदर आदिक बड़े-बड़े कायक्लेश भी किए जायें तो ऐसी ऊँची तपस्या भी केवल कर्मबन्धके लिए ही सम्भव है। उनसे कर्मोंका सम्वर और निर्जरा नहीं होता है। इस तरह चारित्रके कहनेसे तीनोंका ग्रहण होता है। और चारित्र ही वास्तविक धर्म है। चारित्र में ही स्वरूपका आचरण है। जहाँ ब्रह्ममें उपयोग निस्तरंग रूपसे रम जाय उसे ही चारित्र कहते हैं। इस तरह चारित्र ही धर्म है, शुद्धोपयोग है और सम्वर निर्जराका कारण है, और उस चारित्रमें रत्नत्रय निहित हैं, इस कारणसे इस प्रकरणमें चारित्रको सम्वर और निर्जराका हेतु कहा गया है, वह भली-भाँति संगत है, उसमें सन्देह न करना चाहिए।

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय कुत्रचित् ।
मोक्षमार्गैकमाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ।।७७२।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमें से किसी भी एकके कथनसे मोक्षमार्गैक-साध्यताकी स्मृति—उक्त विवेचनका सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें से किसी एकका भी कथन किया जाय तो वह दोष उत्पन्न करने वाला नहीं है, क्योंकि ये तीनों परस्पर अविनाभावी हैं। इन तीनोंका कथन मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिए है। सो तीनोंमें से कुछ भी एक कहा जाय वह तो साधन वचन है और मोक्षमार्ग साध्य है, अर्थात् मोक्षमार्गके साधक ये तीनों कहे जाते हैं। मुक्त कहते हैं केवल आत्माके अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य विभाव या कर्म देह आदिक हैं उन सबसे छुटकारा होना। तो इन सबसे छुटकारा तब ही सम्भव है जब पहिले यह दृष्टिमें आ जाय कि यह मैं आत्मा केवल हूं, इन समस्त बाह्य पदार्थोंसे छूटा हुआ ही हूं। तो जो यहाँ अभीसे स्वतः मुक्त मानेगा वही वास्तवमें मोक्ष-मार्गपर चल सकेगा। सो इस तरहके कैवल्यकी श्रद्धा करना, परिचय करना और कैवल्यमें ही उपयोग रमाकर तृप्त रहना, यही रत्नत्रय है और इसीसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ।।७७३।।

रागांशसे बन्ध व अरागांशसे अबन्ध—इस प्रकरणमें यह भी ज्ञातव्य है कि प्रश्न-कर्ताओंको यह संक्षेपतः दृष्टान्त लेना कि बंध क्या है और मोक्ष क्या है? बन्ध और मोक्षका मूल स्वरूप समझ लेनेपर मोक्षमार्ग और रत्नत्रय इन सबका सही परिचय हो जायगा। बंध होता है रागांश परिणामोंसे, अथवा यों कहो कि जो रागांश है वह बंधन है और जहाँ रागांश नहीं है वहाँ बन्धन नहीं है। बन्धन न होनेका नाम मोक्ष है और बन्धन होनेका ही नाम बंध है, संसार है, और रागादिक विकाररहित आत्माकी शुद्ध ज्ञानमात्र अवस्थाका नाम मुक्ति है। ऐसे मोक्षके कारण यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा गया है जो कि पर-स्पर अविनाभावी है। सारांश यह है कि रागादिक परिणामोंके बिना बन्ध नहीं हो सकता और रागद्वेषके परिणाम न हो तो अबंधदशा रहती है। तो जीवकी रागसहित अवस्थाका नाम बन्धन है और विभाव विकाररहित केवलज्ञानमात्र अवस्थाका नाम मोक्ष है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।७७४।।

सम्यक्त्वांशसे अबन्ध व रागांशसे बन्ध—सिद्धान्तशास्त्रोंमें कहा गया है कि जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशसे कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंशसे उसके राग लगा हुआ है उस अंशमें उसके कर्मबन्ध होता है। उसका अर्थ यह है कि बन्धका कारण केवल रागांश है,

ज्ञान बंधका कारण नहीं है, या अनंत गुण हैं. जिनमें श्रद्धा और चारित्र गुण इनके विकारसे बंध होता है, बाकी अन्य गुणोंका विकार न हो और साहचर्यसे विकार हो तो उस गुणके कारण बन्ध नहीं होता, किन्तु इस विकारके कारण बंध होता है। श्रद्धा गुणका विकार सम्यक्मिथ्यात्व और सासादन परिणामरूप होता है और चारित्रगुणका विकार क्रोध, मान, माया, लोभ होता है। इस विकारको बंध कहते हैं और विकारसे रहित निर्बन्ध अवस्थाका नाम मोक्ष है। और जितने अंशमें सम्यक्त्व है अथवा सम्यक्त्वकी ओरसे देखा जाय तो बंध नहीं है, किन्तु विकारकी ओरसे ही बंध हुआ करता है।

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

प्रसङ्गवश धर्मस्वरूपके संक्षिप्त कथनका उपसंहार—अमूढ़दृष्टिके वर्णनके प्रसङ्गमें धर्मका स्वरूप कहा गया है। तो यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि प्रसङ्गके कारण कुछ अंशरूपसे यहाँ धर्मका स्वरूप बताया गया है। धर्मका विस्तृत स्वरूप तो आगे कहा जायगा जब कि इस धर्मस्वरूपके वर्णनके लिए अवकाश मिलेगा। इस श्लोकमें यह संकेत मिलता है कि ग्रंथकार ग्रंथमें धर्मादिकके सम्बंधमें बहुत विस्तारसे वर्णन करना चाह रहे थे, किन्तु केवल २ ही अध्याय बनाये जा सके और जिन बातोंका संकल्प किया था कि विस्तारसे कहेंगे, वह सब कथन न हो सका, फिर भी संक्षेप रूपसे जो धर्मका स्वरूप कहा गया है वह स्वरूप बहुत मार्मिक है। जैसे एक शब्दमें कहा जाय तो कहो कि अहिंसा धर्म है और हिंसा अधर्म है। रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं वे तो भावप्राणकी हिंसा है और उस भावहिंसाके कारण जो विकल्प मचते हैं और उनके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे दूसरे जीवोंके प्राणोंको दुःख होता है वह है द्रव्यहिंसा। हिंसा अधर्म है और हिंसाका अभाव धर्म है। इस प्रकार धर्मका संक्षेपमें स्वरूप कहा गया है।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थदर्शिनी।
ख्यातात्यमूढ़दृष्टिः स्यादन्यथा मूढ़दृष्टिता ॥७७६॥

अमूढ़दृष्टि अङ्गके संक्षिप्त स्वरूपकी प्रतिष्ठा—अमूढ़दृष्टिका संक्षेपमें स्वरूप यह हुआ कि देव, गुरु और धर्ममें यथार्थ दर्शन कराने वाली दृष्टि न होनेका नाम अमूढ़दृष्टि है। अमूढ़दृष्टिमें ३ शब्द हैं—अ, मूढ़ और दृष्टि। नहीं है मोहभरी दृष्टि जिसमें, ऐसे दर्शनको अमूढ़दृष्टि कहते हैं। मोहभरी दृष्टिका अर्थ है अदेवमें देवबुद्धि करना, अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, अधर्ममें धर्मबुद्धि करना, ऐसी मूढ़तासे रहित जो यथार्थ सत्य है, वस्तुस्वरूपका परिचय है, ऐसे दर्शनको अमूढ़-दृष्टि कहते हैं। इससे विपरीत जो भी दृष्टियाँ हैं उनमें मूढ़दृष्टिका दोष उत्पन्न होता है।

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ।।७७७।।

सम्यक्त्वमें अमूढ़दृष्टि अङ्गकी अवश्यंभाविता—अमूढ़दृष्टि अङ्गके वर्णनमें यह उपसंहारात्मक श्लोक है, इसमें कहा जा रहा है कि यह अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वका गुण है, सो यह गुण सम्यक्त्वकी महिमाके लिए है, दोषके लिए जरा भी लक्षित नहीं है। अमूढ़दृष्टि भावसे दोष नहीं, किन्तु गुण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे यह अमूढ़दृष्टि गुण हुआ करता है। सम्यग्दृष्टि जीवको यह अवश्य पालन करना योग्य है अथवा अमूढ़दृष्टिपना हुये बिना भी सम्यग्दृष्टि ही नहीं कहलाता। अमूढ़दृष्टि न हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि देव, गुरु धर्मके सिवाय कुगुरु, कुदेव, कुधर्ममें उसकी मान्यता हो गयी। जहाँ कुदेव, कुगुरु, कुधर्ममें हितबुद्धिकी रंच भी मान्यता हुई तो उसे विपरीत दृष्टि समझना चाहिए, अथवा जिसे देव, गुरु, धर्मके सम्बन्धमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उसकी दृष्टि अभी सम्यक् नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। तो अमूढ़दृष्टि अङ्ग तो सम्यग्दर्शनका प्रधान अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि पुरुष नियमतः अमूढ़दृष्टि होता है। मोहभरी दृष्टि होनेपर, देव, गुरु, धर्मके विपरीत श्रद्धा होनेपर वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। सम्यग्दर्शन यद्यपि अति सूक्ष्म गुण हैं, इसका यथार्थस्वरूप वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता। हाँ जिस पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अपने आपमें शुद्ध तत्त्वका अनुभव किया करता है। जो आत्मीय शुद्ध आनन्द है. वह सम्यग्दृष्टिको उपलब्ध है। तो सम्यक्त्वमें क्या होता है, ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका यथार्थ स्पष्ट विवेचन करा देने वाला शब्द नही है। हाँ यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्वमें अपूर्व आत्मीय स्वाद आता है, पर उसका विवेचन क्या किया जा सकता है? जैसे कोई पुरुष ताजा घृत खा रहा हो तो उस घृतका स्वाद तो अनुभवमें आ रहा है, पर कहा जाय कि घी का स्वाद किस तरहका होता है तो वह बताया नहीं जा सकता। मीठा आदिकका स्वरूप तो कुछ-कुछ वचनों द्वारा कहा जा सकता है, पर विशुद्ध ताजे घृतके स्वादको बताने वाला वचन तक भी नहीं है, पर जो खुदमें है उसे अनुभव बराबर आ रहा है। इसी प्रकार जिस जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसको सम्यक्त्वका अपूर्व आनन्द आ ही रहा है। तो भले ही वह वचनों द्वारा कह नहीं सकता है। तो ऐसे विशुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको न तो किसी वस्तुस्वरूपमें शंका होती है, न वह बाह्य पदार्थोंकी परिणति भक्तिमें आकांक्षा रखता है, न उसकी कोई प्रकारकी विचिकित्सा होती है। धर्मात्माओंकी सेवामें सम्यग्दृष्टिको ग्लानि नहीं होती है और अमूढ़दृष्टि तो इसका प्रधान ही अंग है, ऐसी मोहभरी दृष्टि हो तो वहाँ मिथ्यात्व हो कहा जायगा, सम्यक्त्व वहाँ नहीं होता। कल्याणार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि सत्यस्वरूपका श्रद्धान करे, ज्ञान करे और सत्यस्वरूपमें ही रमे। इस परिणामसे ही सकल संकट सदाके लिये

निवृत्त हो जावेंगे ।

उपवृंहणनामास्ति गुण: सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं वृंहणादिह ॥७७८॥

आत्मशक्तियोंके वृंहण लक्षणसे लक्षित उपवृंहण गुणका निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवके उपवृंहण नामका गुण होता है। उपवृंहणका अर्थ है अपनी शक्तियोंको बढ़ाना। जैसे आत्मा में ज्ञानशक्ति है तो ज्ञानशक्तिको बढ़ाना, श्रद्धाशक्तिको बढ़ाना, चारित्रशक्तिको बढ़ाना अर्थात् गुणविकास करना सो उपवृंहण गुण है। उपका अर्थ है अत्यंत निकट अर्थात् आत्मामें, वृंहण का अर्थ है वृद्धि करना, यों उपवृंहण शब्दका शब्दार्थसे भी यही अर्थ होता है। उपवृंहण गुण का धारी है सम्यग्दृष्टि जीव। उपवृंहणमें सहायक उपगूहन नामक कर्तव्यका पालन है अर्थात् दूसरोंमें कोई दोष देखे तो उस दोषको प्रकट न करना, धर्मकी प्रभावनाकी दृष्टिसे भी नहीं कहना और अपने आपका उपयोग बिगाड़नेके लिए न कहना। हाँ यदि कोई दोष ऐसा है कि जिससे उसका अनर्थ है और धर्मकी अप्रभावना भी हो सकेगी तो उस ही से स्वयं एकान्तमें कहना और यदि नहीं मानता है और अप्रभावनाकी सम्भावना है तो उसे फिर प्रकट बता देना कि यह धर्मके पृथक् है। उपवृंहणका मूलभाव यह है कि अपनी आत्मशक्तियोंका बढ़ाना। जगतमें जीव अपनी शक्तियोंको दुर्बलतासे अपने ज्ञानस्वरूपको मलिन करता हुआ भटक रहा है। इस जीवका आनन्द तो ज्ञानमें ही मिलेगा। जब ज्ञानोपयोगमें यह ज्ञानस्वरूप समा जाता है तब उसका कल्याण होता है। सम्यग्दृष्टि जीवके यह गुण अविनाभावी गुण है।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकारणं चोपब्रंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ॥७७९॥

उपवृंहण गुणमें आत्मदर्शनज्ञानचारित्रबल वृद्धिकारणता—उपवृंहण गुणके प्रभाव से आत्माकी शुद्धिमें मंदता नहीं आती, प्रत्युत आत्मशुद्धि बढ़ती ही है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावरूपसे वह शुद्धि मिली हुई है। शुद्धिका अर्थ क्या है? आत्मामें जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण हैं, वे विकसित हो जायें, यही आत्माकी शुद्धि कहलाती है। अशुद्धि क्या है? रागद्वेष मोहका विकार आना सो आत्माकी अशुद्धि है। उस अशुद्धिका परिहार दर्शन, ज्ञान, चारित्रके बलसे होता है। तो इन भावोंसे युक्त आत्माकी शक्तियोंको बढ़ाते रहना और इन गुणोंमें किसी प्रकारकी शिथिलता न आने देना सो सम्यग्दृष्टिका उपवृंहण गुण है। ऐसे उपवृंहण गुणका धारी ज्ञानी पुरुष किस प्रकारके व्यवहारसे अपने जीवनमें रहते हैं उसकी संक्षिप्त रूप-रेखा बतायी जा रही है।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव ।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥७८०॥

उपवृंहक ज्ञानी पुरुषकी लौकिक वृत्तियोंमें अयत्नवत्ता—उपवृंहण गुणधारी सम्यग्दृष्टि जीव लोकव्यवहारमें सब कुछ जानता है, पर वह सब बिना विकल्प किए उसमें परिश्रम उठाये बिना यों ही जान लेता है। उन लौकिक बातोंसे आत्मामें कोई प्रेरणा नहीं करना है। अर्थात् लौकिक वृत्तियोंसे उसकी आत्मा प्रेरित नहीं है, किन्तु परिस्थितिवश व्यवहार हो जाता है। इस संसार सम्बन्धी बातोंको प्राप्त करनेके लिए यह ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न नहीं करता है, क्योंकि इस ज्ञानीकी दृष्टि आत्माकी शक्तियोंके बढ़ानेमें ही लग गई है। यह निर्णय किए हुए है ज्ञानी पुरुष को भी आत्माका उद्धार, अतुल आनन्द प्राप्त हो सकेगा तो अपने आपकी शक्तियोंकी वृद्धिसे प्राप्त हो सकेगा। आत्मशक्तिमें बाधा देने वाला है रागद्वेष मोह-भाव। जहाँ आत्मामें किसी इष्ट-विषयमें राग हुआ अथवा द्वेष हुआ वहाँ ही आत्मामें दुर्बलता आ जाती है और उस दुर्बलतामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र हीन हो जाते हैं। बस यही इसपर आपत्ति है और इसी आपत्तिके मारे यह संसारमें अब तक रुला चला आया है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥७८१॥

उपवृंहक ज्ञानी पुरुषकी शुद्धोपलब्धिमें निष्प्रमादता—उपवृंहण गुणका धारी ज्ञानी पुरुष आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें रंचमात्र प्रमादी नहीं होता है। जिसने निर्विकल्प समाधि द्वारा अपने आपमें किसी क्षण सहज ज्ञानमात्र सहज आनन्दस्वरूप निज तत्त्वका दर्शन किया है उसे अब संसारके कोई भी विषय बहका नहीं सकते। जैसे कि मोही जन पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें बहके रहते हैं, विषयसाधन पाकर अन्तः ही अन्तः वे संतुष्ट रहा करते हैं—रागसे अथवा द्वेष से। ऐसी वृत्ति ज्ञानी पुरुषमें नहीं होती, क्योंकि उसका लक्ष्य बदल गया है। अब इस ज्ञानी के लक्ष्यमें यह समाया है कि मेरा कल्याण, मेरा सर्वस्व, मेरा आनंद तो निर्विकल्प रहनेमें है। ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व इस ज्ञानमें बना रहे, इसमें ही निर्विकल्पताकी सिद्धि है। इस कारण यह इस ज्ञानभावकी आराधनामें, उपासनामें रंचमात्र प्रमादी नहीं होता, किन्तु प्रमादरहित होकर बड़े आदरसे, उत्सुकतासे इस आत्माको ही ग्रहण करता है। आत्मतत्त्वका ग्रहण होता है ज्ञानमात्र रूपसे अपने आपको जाननेमें। सो यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको ज्ञानमूर्ति निर-खता है और निरखते हुए इस ही में आदरभाव करके इस ओर ही सम्मुख रहता है। इस ज्ञानमूर्तिका नमस्कार हो, इस ज्ञानमूर्तिको धन्य हो, यह ज्ञानमूर्ति ही सर्वस्व सार है, आदिक रूपसे इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके प्रति इस ज्ञानी पुरुषका आदरभाव बना रहता है। ऐसा इस ज्ञानी पुरुषके उपवृंहण नामका गुण होता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्वहिः।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥७८२॥

ज्ञानी पुरुषके शुद्धोपलब्धिसाध्योपयोगिनी सत्क्रियाका अभ्यास—यह ज्ञानी पुरुष जब कि निर्विकल्प समाधिमें नहीं ठहरा है तो ऐसी स्थितिमें इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिए किसी बाह्य क्रियाका भी अभ्यास करता है, सो वह ऐसी बाह्य समीचीन क्रिया प्रवृत्ति का अभ्यास करता है कि जो बाह्य क्रिया इसके इस ज्ञानरूप, लक्ष्यरूप साध्यमें उपयोगी हो, ऐसी क्रिया ही मुनिधर्ममें मूर्ति-वन्दना, स्वाध्याय, स्तुनि, कायोत्सर्ग आदिक रूपसे बताया गया है। और गृहस्थ धर्ममें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय तप, संयम और दान—इस प्रकारकी क्रियावोंके रूपमें कहा गया है। तो ये सब क्रियायें इस जीवके रत्नत्रयलाभमें उपयोगी पड़ती हैं। इन क्रियावोंको करते हुए इस श्रावकका लक्ष्य रहता है इस रत्नत्रयकी सिद्धि करना। जैसे देवपूजा और दान, इन दो क्रियावोंसे सम्यग्दर्शनको सहयोग मिलता है, श्रद्धा पुष्ट होती है और गुरुपूजा संयम तपकी क्रियावोंसे चारित्रमें सहयोग मिलता है और स्वाध्यायसे ज्ञानमें सहयोग मिलता है। तो जो भी सत् क्रियायें करता है यह ज्ञानी पुरुष उन क्रियावोंका लक्ष्य बनाता है ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी अनुभूति करना। तो उपवृंहण गुणका धारी सम्यग्दृष्टि पुरुष आत्मगुणोंकी वृद्धिके लिए जो उपयोगी पड़ती हों, ऐसी सत्क्रियावोंको भी करता है।

रेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न वाऽऽचरेत्।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुलघतामपि ॥७८३॥

निरोगताके लिये रसायनसेवन व पथ्याचरणके औचित्यकी तरह आत्महितके लिये अन्तस्तत्त्वोपासना व सत्क्रियाचरणका औचित्य—कोई पुरुष जैसे रसायनका सेवन करे, परंतु पथ्य न करे तो रसायन सेवन करके भी पथ्य न करनेके कारण निरोगताका लाभ नहीं ले पाता। जैसे कोई पुरुष रसायनका सेवन करे और पथ्य भी रखे तो वह पुरुष निरोगताको प्राप्त कर लेता है। रोगको दूर करनेके लिए दोनों ही बातें आवश्यक हैं कि औषधिका भी सेवन करे और पथ्य आहार-विहार करे। यदि पथ्यका आचरण नहीं है तो रसायनका सेवन करके भी रोग दूर नहीं किया जा सकता। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवको अपने साध्यमें जो उपयोगी पड़ती हैं, ऐसी सत् क्रियायें करनेकी भी आवश्यकता है। आवश्यकता यह समझनी चाहिए कि रसायन सेवनकी तरह तो है ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासना, पर कोई ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासना करनेके लिए उद्यत तो हुआ है, पर क्रियायें करता हो विपरीत, तो विपरीत क्रियावोंको करने वाले पुरुषको इस लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो पाती। जो पुरुष पथ्यकी तरह सत् क्रियावोंका आचरण करते हों, ऐसे पुरुषोंके अनेक अवसर आते हैं कि वे ज्ञानमात्र आनन्दधाम अंतस्तत्त्वका अनुभव कर सकें। तो यों ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव करना तो परमआवश्यक है ही, पर इसकी सिद्धिके लिए असत् क्रियावोंसे दूर होकर सत्क्रियावोंका आचरण करना भी सहयोगी बनता है।

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपवृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ।।७८४।।

सम्यग्दृष्टि जीवके अनायास उपवृंहणकी सिद्धि—अथवा सम्यग्दृष्टि जीवके बिना ही किसी खास प्रयत्नके स्वतः ही उपवृंहण गुणकी सिद्धि होती है । जो साधु अप्रमत्त है, श्रेणी का आरोहण कर रहा है तो ऊपर-ऊपरके गुण श्रेणी रूपसे उसके कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर विशेष होती रहती है । वैसे सम्यक्त्वमें असंख्यातगुणी श्रेणी निर्जरा कही है और जब यह पुरुष सकल चारित्र धारण करता है तब और विशेष असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और यह जब चारित्रमोहके क्षयके लिए विशिष्ट परिणामोंमें गुजरता है तो उन श्रेणियोमें इसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । तो उस महात्माके जो कर्मनिर्जरा हो रही है, आत्मशक्तियोंकी वृद्धि हो रही है सो यह उपवृंहण गुण बिना परिश्रमके स्वतः ही करणबलसे बन रही है । तो यों सम्यग्दृष्टि जीवके अनायास ही उपवृंहण नामका गुण होता है । जब इस ज्ञानी पुरुषने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव कर लिया है तो उस ही उपायसे इसके गुण स्वतः बढ़ते ही जायेंगे, यह स्वाभाविक बात है ।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ।।७८५।।

उपवृंहक ज्ञानी संतके असंख्येगुणक्रमसे कृत्स्नकर्मक्षयकी अवश्यंभाविता—उपवृंहण गुणके धारी सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना अवश्यंभावी है । जिसके सम्यक्त्व प्रकट हुआ है और यह सम्यक्त्व बना रहता है तो उसका यह फल अवश्यंभावी है कि वह सम्पूर्ण कर्मोंको निर्जरा करके मोक्षपदको प्राप्त करेगा । इसका कारण यह है कि जब कर्मोंके चिपकनेका कारणभूत रागद्वेष भाव ढीला हो जाता है, उस रागद्वेष भावसे इसका उपयोग फिर जाता है और अविकार ज्ञानस्वभावकी ओर इसका उपयोग लगा रहता है तो ऐसी स्थितिमें इस जीवके प्रतिक्षण असंख्यातगुणी निर्जरा होती ही रहती है । और ऐसी असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहे, सम्वर भी रहा करे तो ये कर्म कब तक इस आत्मामें टिक सकेंगे ? एक क्षण ऐसा आयगा कि नये कर्म तो आते नहीं और पूर्व कर्म निर्जराको प्राप्त हो रहे तो एक भी कर्म निषेक इस आत्मामें न रहेंगे, यह सब उपवृंहण नामक गुणका माहात्म्य है ।

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ।।७८६।।

कर्मक्षयवृद्धिके अनुसार शुद्धिवृद्धि—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि जैसे-जैसे कर्मका क्षय होता जाता है वैसे ही वैसे शुद्धोपयोगके अंश बढ़ते रहते हैं । कर्मोंका उदय सत्त्व बन्ध ये सब आत्माको मलिन बनानेमें कारण हो रहे थे, इनमें भी उदयरहित बनानेमें खास

कारण है। सत्त्व रहते हुए यह आत्मा अन्य द्रव्योंसे बद्ध है। ऐसे ही मलिनता है, पर विपाक कालमें इस जीवके रागद्वेष आदिक भाव जगते हैं उससे यह अपने अन्दर भी विकृत हो जाता है। तो जब कर्मोंका उदय हटता है, कर्मोंका क्षय होता है तो उस समय जैसे-जैसे कर्मोंका क्षय होता है वैसे ही वैसे उपयोगकी वृद्धि होती जाती है। तो जिस-जिस प्रकार कर्मोंमें वृद्धि होती है उस-उस प्रकार शुद्धोपयोगकी भी वृद्धि होती चली जाती है और इस तरह कर्मक्षयकी वृद्धिसे शुद्धोपयोगकी वृद्धि, शुद्धोपयोगकी वृद्धिसे कर्मक्षयकी वृद्धि, इस तरह वृद्धिसे वृद्धि होती चली जाती है।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥७८७॥

शुद्धिवृद्धिके अनुसार विषयोपेक्षावृद्धि—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि कर्मक्षयकी वृद्धिसे आत्मस्वरूपकी वृद्धि होती जाती है। तो जैसे-जैसे विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरङ्गमें प्रकाशित होती जाती है उसी-उसी प्रकार आत्माके इन्द्रियविषयोंसे उपेक्षा होती जाती है। इस जीवको बरबाद करने वाली वृत्ति है विषयोंमें प्रवृत्ति होना। तो पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति न रहे. इसका मूल उपाय आत्माके रत्नत्रयकी सिद्धिका लाभ है। कोई पुरुष हैरान होकर इन विषयोंके कारण मेरी बरबादी है, यों विषयोंको त्याग दे अर्थात् उन साधनोंके स्थानोंको छोड़कर अन्य स्थानपर पहुंच जाय, सो यदि वहाँ शुद्धोपयोगका अंश प्रकट नहीं है, आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं जगी है तो ऐसे बाह्य विषयोंको छोड़नेपर भी वहाँ उपेक्षा नहीं जगती है। अभी विषयोंकी ओर लगाव शेष रह जायगा। तो विषयोंसे मूलतः उपेक्षा हो जाय, इसका उपाय है आत्मस्वभावकी दृष्टि अनुभूति, प्रतीति और रति होना। इन उपायोंसे जैसे-जैसे विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरङ्गमें बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे इन्द्रियविषयोंमें इस आत्माको उपेक्षा होती जाती है।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत्।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥७८८॥

शुद्धिलाभके लिये क्रियाकाण्डमें आत्मशक्तिके लोप न करनेका अनुरोध—उक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि जब यह बात पायी जा रही है कि कर्मक्षयकी वृद्धिमें आत्मविशुद्धिकी वृद्धि होती है, आत्मशुद्धिकी वृद्धिमें इन्द्रियसे उपेक्षा होती है और इन्द्रियविषयोंसे उपेक्षा हो जाय तो यह ज्ञानमग्न होनेका अमोघ उपाय है तो इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए ज्ञानी पुरुषको उचित है कि वह नाना क्रियाकाण्डोंमें आत्मशक्तियोंका लोप न करे। इस शिक्षाके दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि विषयउपेक्षा विशुद्धिलाभके लक्ष्य वाले पुरुषको यथोचित क्रियाकाण्ड भी करना चाहिए। वहाँ अपनी शक्तिको न छुपाये। दूसरा अर्थ यह है कि नाना

क्रियाकाण्डोंको करना भी पड़े तो उन क्रियाकाण्डोंके करनेके समय आत्मशक्तिका लोप न कर दें। अपनी शक्तिका, अपने गुणोंका ध्यान रखें और उन गुणोंके विकासका यत्न करें। तब दृष्टिमान पुरुषको बड़े प्रयत्नपूर्वक आत्मशक्तिको बढ़ाना चाहिए और बड़े ही प्रयत्नपूर्वक लक्ष्य को न बिगाड़ते हुए उन क्रियाकाण्डोंको भी करना चाहिए। यदि कोई पुरुष केवल क्रिया-काण्डोंमें ही रहता है, आत्मशक्तिका कोई लक्ष्य नहीं है तो उससे भी उसे लाभ न होगा, और कोई पुरुष जान गया कि आत्मशक्तिका विकास करना ही धर्म है और ऐसा जानकर इस व्यवहार परिस्थितिमें ऐसा प्रमाद रखता है कि वह क्रिया-कलापोंसे दूर रहता है जो आव-श्यक क्रियायें हैं उनको नहीं करता है, केवल एक ज्ञानतत्त्वपर ही भरोसा रखे रहता है अथवा परिचय करता रहता है तो उससे भी उसकी वृद्धि न होगी। तो उपवृंहण गुणके धारी पुरुषको यथोचित सत्क्रियायें करनी चाहिएँ और उस दिव्य आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्रके गुणोंकी वृद्धिका अपना लक्ष्य सही बनाये रहना चाहिए।

उपवृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥७८९॥

सम्यग्दृष्टिके उपवृंहण गुणकी महिमाका कथन—उपवृंहण नामक अंगके वर्णनके उप-संहारमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवका उपवृंहण नामका भी जो गुण है वह भी एक गुणमें गिना गया है अर्थात् एक यह गुण भी अविनाभावी है कि वह गुणके लिए ही है और अवश्यं-भावी है। उपवृंहण नामक गुण दोषवर्द्धक नहीं है, किन्तु वह गुणपूरक ही है। उपवृंहणका अर्थ है आत्मशक्तिका बढ़ाना। आत्माकी भलाई सम्पूर्ण विकासमें है। जहाँ अज्ञान और क्लेशका लेश नहीं है, परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द जहाँ प्रकट हुआ है, प्रभुमें यदि कोई महिमा के लिए शब्द कहा जा सकता है तो यह ही कहा जा सकता है कि प्रभु ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठा है अर्थात् कहाँ अनन्तज्ञान और अनन्तआनन्द प्रकट हुआ है, ऐसी परिपूर्ण स्थिति पानेसे पहिले गुणवृद्धि होना आवश्यक ही है। उसीके लिए गुणी विवेकी पुरुषका प्रयत्न हो रहा है। यह प्रयत्न कोई बाहरी रूपमें नहीं होता, किन्तु अपने अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान-स्वभावकी उपासनासे प्रकट होता है।

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥७९०॥

धर्मसे च्युत हुए जीवको धर्ममें स्थित करने वाले स्थितिकरण अङ्गका निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवका स्थितिकरण नामका भी गुण है। अब तक निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्वि-चिकित्सक, अमूढ़दृष्टि और उपवृंहण—इन ५ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् यहाँ स्थितिकरणका वर्णन किया जा रहा है। स्थितिकरणका अर्थ यह है कि जो पुरुष धर्मसे

पतित हो गये हैं अथवा पतित होनेके सम्मुख हैं उनको धर्ममें स्थिर कर देना इसका नाम स्थितिकरण है। स्वयं भी धर्मसे च्युत हो गया हो तो फिरसे धर्ममें स्थिर करनेका नाम स्थितिकरण है। धर्मसे हट रहा हो कोई उसे अधर्ममें लगाये इसका नाम स्थितिकरण नहीं, यह तो दोष है, मोहकी विडम्बना है, किन्तु जो पुरुष शान्ति और मोक्ष देने वाली सम्यक् भावनासे च्युत हो गया हो, आत्मदृष्टिसे पतित हो गया हो उसे फिर धर्ममें स्थिर कर देना, इसका नाम स्थितिकरण है। ऐसा स्थितिकरण गुण सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाभाविक होता है।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥७६१॥

धर्मके लिये अधर्मसेवनके उपदेशका अनौचित्य—ज्ञानी पुरुषोंने धर्मके लिए भी अधर्म का सेवन नहीं बताया है। जैसे रूढ़िमें लोग धर्मसेवाके लिए अधर्मप्रवृत्ति करते हैं, यह ज्ञानी पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। भावी कालमें धर्म मिले, ऐसी आशासे कोई मंद पुरुष अधर्म के सेवनका उपदेश देते हैं, पर उनका यह उपदेश बिल्कुल असंगत है। किसी भी आशासे कोई भी अधर्मका सेवन करे तो उसे धर्ममें शुमार नहीं किया गया है। रूढ़िमें जैसे कि अमूढ़-दृष्टि अङ्गके प्रकरणमें बताया था वह तो मिथ्यात्व स्पष्ट ही है, पर कभी कोई ऐसी आशासे कि आगामी कालमें हम धर्मका सेवन करेंगे और दृढ़तासे धर्ममें स्थिर रहेंगे उसके लिए ही यह प्रोग्राम बना रहे हैं कि पहिले धन कमावें, धन संचय करें, ऐसी स्थिति बनायें, फिर धर्मपालन भली-भाँति करेंगे, इससे धर्मप्राप्तिके लिए अधर्मका सेवन किसी भी परिस्थितिमें संगत नहीं बताया गया है।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत ॥७६२॥

अधर्मसेवनसे परम्परया भी धर्मका अनवकाश—कोई ऐसा सोचे कि अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होगा, इस तरह परम्परा पक्षका भी यहाँ रंचमात्र अवकाश नहीं है। भला लोगोंमें भी देखिये कि क्या कोई पुरुष ऐसा होगा जो ठंडी पानेके लिए अग्निमें प्रवेश करेगा। अग्नि तो संतापका ही कारण है। उसमें प्रवेश करने वाला तो संतप्त होगा, जलेगा, मरेगा। उससे शीतनिवारणकी आशा करना व्यर्थ है। यद्यपि तत्काल भी ऐसा मालूम होता है कि अग्निके सम्बन्धसे शीत दूर होती है, मगर इससे तो उसका विनाश ही हो जाता है। तो कोई पुरुष मोहवश शीतके लिए वह्निमें प्रवेश करे तो उसे मूर्ख ही कहा जा सकेगा। इसी तरह कोई पुरुषधर्म होगा परम्परासे आगे, इस हेतुसे अधर्मसेवन करे तो यह भी उसके लिए एक दोषकी बात है। जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है। कोई पुरुष ठंडको चाहता हो तो उन ही पदार्थोंका सेवन करे जो ठंडको पैदा करने वाले हों। अब ठंडकी तो

चाह है और गर्मीमें प्रवेश कर रहा, मानो ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीसे वह संतप्त हुआ है और उस गर्मीको शान्त करनेके लिए अर्थात् ठंड चाहनेके लिए अग्निमें प्रवेश करे तो यह उसकी अति मूर्खता है। इसी तरह कोई पुरुष धर्मको चाहे और अधर्मका सेवन करे तो उससे धर्मकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती है। धर्मके सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति होगी, अधर्मरूप प्रवृत्ति करनेसे अधर्म ही मिलेगा। तो जो लोग अधर्मसेवनको धर्म बतलाया करते हैं या धर्मविरुद्ध प्रवृत्तिको करके धर्म बताया करते हैं वे पुरुष विवेकशून्य हैं, उनका स्थितिकरण इस प्रकार न होगा, किन्तु धर्मसे च्युत हुए पुरुषोंको धर्ममें ही स्थिर करनेसे स्थितिकरण होगा।

नैतद्धर्मस्य प्रागूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥७६३॥

अधर्मसेवनमें धर्मप्रागूपताका भी अभाव—अधर्मका सेवन करना, यह कोई धर्मका पहिला रूप भी नहीं है। कोई यह सोचे कि धर्ममार्गमें लगनेका प्रारम्भिक रूप तो अधर्म-सेवन है। सो यह बात नहीं है, क्योंकि अधर्मसेवन कभी भी अधर्म-प्राप्तिसे हटा नहीं सकता। अधर्मसेवन धर्मप्राप्तिकी व्याप्तिसे रहित है। अनेक दार्शनिक लोग हैं, ऐसे जो हिंसारूप प्रवृत्ति को धर्म बताते हैं और कहते हैं कि इस यज्ञसे, हिंसासे आगामी कालमें धर्म मिलेगा और वह धर्ममें लगनेका प्रारम्भिक रूप है। वास्तवमें धर्म होता है ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्वको उपयोग में लेनेसे। ज्ञानमें ज्ञानमय निजस्वरूप रहे, यही धर्मकी सृष्टि है। इस लाभके लिए कोई भी अधर्म प्रवृत्ति समर्थ नहीं हो सकती है। हाँ, कदाचित् धर्ममें कोई बाहरी क्रियाकाण्ड किए जाते हैं तो वे क्रियाकाण्ड भी सावधानीसे विवेकपूर्वक किए जाते हैं। जहाँ समता न हो, साक्षात् जहाँ अधर्म होता हो, हिंसा होती हो और ऐसे हिंसाजन्य कर्मसे धर्मप्राप्तिकी आशा की जाय तो यह सम्भव नहीं है। हिंसारूप धर्मके सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। पापका फल तो उच्च नहीं हो सकता है, उससे तो दुर्गति ही प्राप्त होगी। हिंसा परिणाम करनेसे संक्लेश बढ़ता है और उससे पापबन्ध होता है। तो अधर्मसेवनका फल अधर्ममें प्रवृत्ति ही है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नहीं हो सकता, इस कारण जिन्हें धर्ममार्गमें चलना हो उनको अहिंसारूप प्रवृत्ति और आत्मज्ञानरूप प्रकाशके साथ चलना चाहिए।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥७६४॥

कर्मविपाकमें अधर्मका बन्ध—प्रत्येक क्षण जब तक कि कर्मका उदय चल रहा है तब तक समझना चाहिए कि अधर्म प्रायः करके ही सम्भव है। और कदाचित् किसी अंशमें धर्म भी चल रहा है तो उस धर्मका कारण किन्हीं अंशोंमें जो कर्मोंका क्षय उपशम अथवा अनुदय है उसका फल है। कर्मोदयसे अधर्म है अर्थात् पापका बन्ध होता है। कोई अधर्मरूप

प्रवृत्ति करे तो उसको अधर्म ही होगा। यज्ञादिक अधर्मसेवनसे धर्मकी कामना करना यह सर्वथा भूलकी बात है। धर्ममें ही अनाकुलता है और वह धर्म है आत्माका स्वभाव। वह स्वभाव है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, सो ऐसे ज्ञाताद्रष्टा स्वभावमें उपयोग लगाना है। धर्मसेवन वस्तुतः वह ही पुरुष करता है और इस तरह वह हिंसा आदिक पापोंसे हटकर धर्ममें स्थिर रहा करता है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥७६५॥

स्थितिकरणके स्वस्थितिकरण व परस्थितिकरण रूप दो प्रकार—यह स्थितिकरण दो प्रकारका होता है—(१) स्वस्थितिकरण और (२) परस्थितिकरण। अपने आपका आत्मा पतित हो जाय अथवा अधर्मसे पतित होनेके सम्मुख हो तो अपने आपके आत्माको ज्ञान विवेक द्वारा अपने धर्ममें लगा लेना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण। अपने आपको धर्ममें स्थित कर देना और जो कोई दूसरे आत्मा धर्मसे च्युत हो रहे हों तो उन्हें धर्ममें स्थिर करने योग्य उपदेश देकर अथवा सेवा साधन बनाकर धर्ममें पूर्ववत् स्थित कर देना, इसे परस्थितिकरण कहते हैं। स्व जब धर्मसे च्युत होता है तो विषयकषाय मात्रमें लगा हुआ है, इसीके मायने हैं अधर्ममें आ जाना। तो जिस प्रकारके भेदविज्ञानके प्रकाश द्वारा और अभेद अपेक्षा ज्ञायकस्वरूपके दर्शनके प्रयास द्वारा यह आत्मा अपने आपमें स्थित हो सके, ऐसा पौरुष करनेका नाम है स्वस्थितिकरण और मन, वचन, काय आदिकके सहयोगसे भेदविज्ञानके उपदेशसे आत्मतत्त्वके स्मरण करानेसे परपुरुषको धर्ममें स्थिर कर देना, इसे परस्थितिकरण कहते हैं।

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥७६६॥

आत्मस्थितिसे च्युत स्वकी आत्मामें स्थिति करने रूप स्वस्थितिकरणका निर्देश—कर्मके विपाक विचित्र और दुर्निवार भी होते हैं। जब कभी मोहके उदयका उद्वेग हो तो यह जीव अपनी आत्मस्थितिसे च्युत हो जाता है तो ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वके उपयोगसे गिर जाता है। तो ऐसा धर्मस्थितिसे च्युत होना, अपने आत्माको आत्मस्थितिमें लगा देना, इसका नाम स्वस्थितिकरण है। कर्मोंके भी विपाक आते रहते हैं। कोई पूर्वकालमें विशिष्ट निद्यक्ति आदिक जिस प्रकारका कर्म बन्ध गया हो तो उसके उदयमें यह आत्मा धर्मसे पतित हो जाता है। तो ऐसे पतित हो रहे अथवा पतनके सम्मुख निज आत्माको आत्मतत्त्वका प्रकाश देकर ज्ञान विवेक द्वारा पुनः धर्ममें स्थिर कर देना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण।

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥७६७॥

स्वस्थितिकरणमें दर्शनस्थिति व चारित्रस्थितिकी विशेषता—ऊपर कहे गए कथनका यह भावार्थ है कि कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे सम्यग्दृष्टि भी दर्शनसे गिर जाता है, चारित्रसे गिरे उसे भी धर्मसे पतित होना कहा गया है। ऐसे निज आत्माको चारित्रमें फिरसे सावधान कर देना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण और कभी अधिक गिर जाय तो वह सम्यग्दर्शनसे भी गिर जाता है। तो सम्यग्दर्शनसे गिर जानेपर भी अथवा सम्यग्दर्शनसे गिरनेके सम्मुख हो रहा हो तब पूर्वपरिचित भेदविज्ञानका आलम्बन लेकर पुनः अपने पौरुषको सम्हालकर सम्यक्त्व प्राप्त करना और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर आगे अपनेको चारित्रमें पुनः स्थित करना, इसका नाम स्वस्थितिकरण है, स्वज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्र यह आत्मा जब प्रवृत्तिमें ज्ञानमात्र रहता है अर्थात् रागद्वेषसे रहित होकर केवल ज्ञातादृष्टा रहता है तो इस स्थितिमें आत्माकी आकुलता नहीं रहती है। और ऐसे अनुकूल निज पदमें रमनेका नाम स्वस्थितिकरण है।

अथ क्वचिद्यथाहेतुदर्शनादपतन्नपि।
भावशुद्धिमधोधोर्शंरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥७६८॥

दर्शनारूढ़ व चारित्रारूढ़ निजकी भावशुद्धिवृद्धिका स्वस्थितिकरणमें कर्तव्य—कभी ऐसी भी स्थिति रहती है कि अपना साधन सामग्री विवेक अभ्यास विशिष्ट बना रहता है तो वह दर्शनसे अथवा चारित्रसे गिरता नहीं है। इस स्थितिमें भी कर्तव्य यह है कि उन भावों की शुद्धिसे, बढ़ावमें शुद्धिमें कमी न आने दें। एक दिन कमी आनेपर फिर उस कमीको दूर करना और पूर्ववत् भली स्थितिमें अपनेको लगाना, यह स्थितिकरण है और यह भी स्थितिकरणका ही विशुद्ध रूप है कि जिन विशुद्धियोंमें हम कुछ चल रहे हैं उनसे हम गिर न सकें, उनमें हम ऊपर-ऊपर ही बढ़ते चले जायें, यह है स्थितिकरणका विशुद्ध उत्कृष्टरूप। तो हमारा कर्तव्य है कि हम जिस विशुद्धिको प्राप्त हुए हैं—सम्यक्त्व और चारित्रगुण जो भलीभाँति चल रहा हो उससे हम गिरें नहीं, किन्तु उस विशुद्ध अंशको हम बढ़ाते चले जायें तो ऐसी विशुद्धिकी वृद्धि करते रहनेको भी स्थितिकरण कहते हैं।

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥७६६॥
यद्वा वहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥८००॥
नासंभवामिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥८०१॥

कर्मके तीव्र मन्द विपाकमें व अनुदयमें संभावित स्थितियोंका कथन—कभी यह आत्मा स्वीकृत किए हुए बाह्य शुभाचारको छोड़ देता है, कभी नहीं छोड़ता है और कभी

छोड़कर फिर ग्रहण कर लेता है अथवा कभी बाह्य क्रियाचारमें ठीक-ठीक सावधान भी रहता है और अन्तरङ्ग भावोंसे वह बढ़ने लगता है और कभी अन्तरङ्ग भाव बढ़ने लगते हैं, कभी घटने भी लगते हैं। ये सब बातें होना असम्भव नहीं हैं, चारित्र मोहकर्मके उदयसे ऐसे ही विचित्र घटती-बढ़ती रहती हैं कि जिससे आत्माके चारित्रकी ऐसी विचित्र स्थितियाँ होने लगती हैं। चारित्रमोहनीयकर्म जिस ढंगसे कम होता है वहाँ विशुद्धि सहज है, और चारित्रमोहनीयका विपाक जैसे वृद्धिको प्राप्त होता है वैसे चारित्रमें हीनता होती है। तो हमें सर्वस्थितियोंमें निष्प्रमाद रहना चाहिए, चारित्र हमारा सही चलता रहता है तो उस चारित्र की वृद्धिमें हम अपनी प्रगति करें और कभी चारित्रसे हम हटने लग रहे हों तो पौरुष सम्हाल करके इस अविकार ज्ञानस्वभावका उपयोग करके फिर अपनेको चारित्रमें स्थिर कर दें।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥८०२॥

सम्यग्दर्शनमें स्वस्थितिकरणकी अनायासताका कथन करते हुए स्वस्थितिकरणका उपसंहार—स्थितिकरणके स्वरूपके प्रसंगमें यहाँ उपसंहार रूपमें कहते हैं कि स्वस्थितिकरण का अभिप्राय यह है कि स्वस्थितिकरण होता है स्वयं निजमें और उस स्वयंमें आत्माकी स्थिरता न हो तो इसमें स्वस्थितिकरण भङ्ग होता है। अपने आपमें स्थिरता करनेका पौरुष यही है कि अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवके लिए उपयोग बनायें। मैं ज्ञानमात्र हूं। जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, केवल एक अंतः ज्ञानप्रकाश है, ऐसा प्रतिभासस्वरूप यह मैं केवल प्रतिभासका ही काम करता हूं, किसी भी अन्य पदार्थकी परिणति नहीं कर सकता और न किसी अन्य पदार्थकी परिणतिसे मेरेमें कोई परिणति बनती है। सर्व पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अपने-अपने उत्पादव्ययध्रौव्य रूपमें रहा करते हैं। तब मुझसे किसी दूसरेका सुधार नहीं है, दूसरेसे कोई मेरा सुधार-बिगाड़ नहीं है, ऐसा जब अपने आपमें परखता है यह ज्ञानी तो यह भ्रष्ट उपयोगको पुनः अपने आपमें स्थिर कर लेता है। तो यह स्थितिकरण अपने आपकी स्वयंकी स्थिरतासे हुआ करता है।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥८०३॥

स्वपदसे भ्रष्ट जीवोंको उस पदमें स्थित करनेरूप सदनुग्रह द्वारा परस्थितिकरणका लाभ—स्वस्थितिकरणका वर्णन करके इस श्लोकमें परस्थितिकरणका लक्षण बताया गया है। दूसरे जीवोंपर सत् अनुग्रह करके उनको धर्ममें स्थित कर देना सो परस्थितिकरण है। सत् अनुग्रहमें विशुद्धता है, किसी प्रकारको इच्छा न रखकर अर्थात् जिसको धर्ममें स्थिर किया जा रहा है उससे अपने लिए कोई वाञ्छा न करके धार्मिक बुद्धिसे परोपकार करनेका भाव रहता

है। तो ऐसे प्रतिष्ठालाभ आदि स्वार्थोंसे रहित होकर जो परपुरुषको धर्ममें स्थित किया जाता है उसको परस्थितिकरण कहते हैं। तो परजीवोंका अनुग्रह यह है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें फिर सदुपदेश करके, उनको स्थितिके अनुकूल सहयोग देकर फिरसे आत्मामें स्थिर कर देना इसको परस्थितिकरण कहते हैं।

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहःपरे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥८०४॥

आत्मव्रत न छोड़कर धर्मादेशोपदेशोंसे परानुग्रह करनेका कर्तव्य—स्थितिकरण अङ्ग में दो प्रकारका स्थितिकरण बताया है—(१) स्वस्थितिकरण और (२) परस्थितिकरण। तो परजीवोंमें अनुग्रह करना यह परिस्थितिकरण है। उसके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि दूसरे पुरुषोंपर अनुग्रह किस प्रकारसे करना चाहिए? धर्मका आदेश देकर और धर्मका उपदेश देकर परजीवोंपर अनुग्रह करना चाहिए। यहाँ यह सावधानी रखना आवश्यक है कि अपने व्रतको छोड़कर दूसरेके रक्षण और स्थितिकरणमें तत्पर रहना उचित नहीं है अर्थात् आत्मव्रतको न छोड़कर ही दूसरेकी रक्षा करनेमें तत्पर रहना चाहिए। जगतमें जीवका साथी स्वयं ही आप हुआ करता है। ऐसी सभी प्राणियोंकी स्थिति है। तब कर्तव्य यह है कि जब कोई किसी दूसरेका कुछ कर ही नहीं पा रहा तो सबको अपना मंगल कार्य कर लेना चाहिए और इस मंगल कार्य करनेके प्रसङ्गमें जो कुछ दूसरेकी मंगलतामें सहयोग हो सकता है उसे करना चाहिए। यही कहलाता है परस्थितिकरण। तो दूसरोंकी रक्षा और अनुग्रहमें तत्पर होना तो चाहिये, पर अपने व्रतको न छोड़कर ही परस्थितिकरण करना चाहिये।

आदहितं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदंपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥८०५॥

आत्महितकी प्रधान कर्तव्यताका स्मरण—सभी आचार्योंने अपनी यह सम्मति जाहिर की है कि आत्महित अवश्य कर लेना चाहिए। इस जगतमें अनादिकालसे अज्ञानवश भटकते हुए प्राणी जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं और प्रतिक्षण उनके वेदना आकुलता रहा करती है। ऐसी स्थितिमें शान्ति कैसे प्राप्त हो? शान्तिका मार्ग तो ज्ञानमार्ग है। और जिसमें शान्ति मिले वही आत्महित है। तो ऐसा आत्महित सभीको कर ही लेना चाहिये। हाँ यदि शक्ति है तो परहित भी करना चाहिए, पर आत्महितकी बात छोड़कर केवल परहितमें जो प्रयत्नशील रहे तो वास्तवमें वे परहित भी करनेमें असमर्थ रहेंगे और स्वयंका हित तो कर ही न सके। जैसे एक कल्पना करो कि किसी समाजके १०० भाई हैं, जो कि धर्मकी प्रभावना करना चाहते हैं, और उन सभीकी भावना यह हुई है कि व्याख्यान देकर या जलूस निकालकर या वैभवका प्रदर्शन करके दूसरोंको उपदेश दे देकर धर्मकी प्रभावना करें, ऐसा ही मान लो वे

सभी करने लगें और अपने आपके विषय कषाय मंद हों, इस ओर कोई प्रयत्न न करे तो बताओ उनमें से किसीका भी हित हो सकेगा क्या ? तो आत्महितकी बात यदि किसीके चित्त में रहे तो उसकी मुद्रा, उसके वचनका ही ऐसा प्रभाव होगा कि लोग स्वयं ही उस उपदेशको ग्रहण कर सकेंगे, अपना उत्थान कर सकेंगे । सो आत्महित करना प्रथम कर्तव्य है । यदि शक्ति हो तो परहित भी करना चाहिए । आत्महित और परहित इन दोनोंमें श्रेष्ठता आत्महित करनेकी कही गई है ।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः युगमात्मनः ।।८०६।।

स्थितिकरण अङ्गकी गुणश्रेणिमें उत्कर्षताका प्रसाधक दिग्दर्शनका उपसंहार—स्थितिकरण अङ्गके प्रकरणमें इस अंतिम श्लोक द्वारा स्थितिकरणके वर्णनका उपसंहार किया जा रहा है । यहाँ जो कुछ भी दिग्दर्शन मात्र स्थितिकरण गुणका स्वरूप कहा गया है यह स्थितिकरण गुण सम्यग्दृष्टिके होता ही है । ज्ञानी पुरुष अपने आपको अपने स्वरूपमें उत्तरोत्तर विशेष स्थिर करता हुआ ही रहता है और इसी कारण करणानुयोग ग्रंथोंमें भी बताया गया है कि इस स्थितिकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती चली जाती है, क्योंकि इसने अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें स्थिरता की । वहाँ कषायोंका अभाव हुआ तो आस्रवद्वार न रहनेके कारण कर्मका सम्वर भी हुआ और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हुई । तो स्थितिकरण गुण तो सम्यग्दृष्टि जीवके असंख्यातगुणी निर्जराके लिए प्रसिद्ध ही है ।

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ।।८०७।।

परमेष्ठी व चतुर्विध संघमें निष्कपट दासत्व रूप वात्सल्य अङ्गका निर्देश—स्थितिकरण अङ्गका वर्णन करके अब संक्षेपतः वात्सल्य अङ्गका वर्णन किया जा रहा है । वात्सल्य का अर्थ है जिसमें वात्सल्य किया जा रहा हो, धर्म और धर्मके साधन सिद्ध अरहद्बिम्ब, जिनमन्दिर, चतुर्विधसंघ—इनमें दासता आ जाना अर्थात् इनकी सेवा इस रूप करना, जैसे स्वामीके कार्यमें सेवक प्रतिक्षण जागरूक रहता है, इस तरह इन पूज्य साधनोंके प्रति सेवक की तरह दासता धारण कर लेना, इसका नाम है वात्सल्य । वात्सल्य अङ्गका पालन करने वाले ज्ञानी पुरुष मानो अपना सर्वस्व समर्पण किए हुए रहते हैं और जिस तरह उनके गुण का प्रसार हो, उनका प्रसाद मिले उस तरह सर्वप्रकारसे मन, वचन, कायसे सेवामें तत्पर रहा करते हैं । तो स्वामीकार्यमें सेवककी तरह जो नवदेवताओंके प्रति दासपना अंगीकार करता है उसका वात्सल्य अङ्ग कहलाता है ।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ।।८०८।।

धर्मवत्सल पुरुषकी चतुर्विधसंघपर आने वाले उपसर्गोंके दूर करनेमें तत्परता—उक्त श्लोकमें वात्सल्यके स्वरूपमें कहा गया है कि इन सभी पूज्य पुरुष और साधनोंके प्रति दासत्व होना वात्सल्य है । अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि उन पूज्य पुरुषोंमें किसी भी पुरुषपर यदि घोर उपसर्ग आये तो उसको दूर करनेके लिए सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा तत्पर रहता है । दासता अथवा वात्सल्य निश्छल प्रीतिका प्रभाव ही यह है कि उन पूज्य पुरुषोंपर कोई उपसर्ग आये तो उसका निवारण करनेके लिए तन, धन, वचन आदि सर्वस्व न्यौछावर करनेके लिए हाजिर रहते हैं । तो जैसे कोई पुरुष चतुर्विंशति तीर्थङ्करकी पूजा करे अरहंत सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा करे अथवा कोई किसी एककी भी पूजा करे तो वह एक समान भक्ति कहलाती है, क्योंकि वह जिसकी पूजा कर रहा है उस पूजाको करते हुएमें सबमें उन गुणोंको निरख रहा है, अथवा उसके संस्कारमें सभी पूज्य हैं। अन्य सब पूजने योग्य नहीं हैं, केवल यह ही पूज्य है जिसकी पूजा की जा रही है, ऐसा भाव हुआ तब तो वह विषमता आयी, किन्तु सबके प्रति जिसका पूज्य भाव है वह पुरुष किसी एककी भी पूजा कर ले तो वह सबकी पूजा कहलाती है । इसी प्रकार···और पूज्य पुरुषोंपर जिसका वात्सल्य है, ऐसा पुरुष किसी एकपर कोई उपसर्ग आये या उसका कोई प्रकरण हो सो वहाँ उसके समस्त संकट टालना, विपत्ति दूर करना सो भी वात्सल्य है ।

यद्वा नह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ।।८०९।।

धर्मात्मा पुरुषोंपर आई हुई बाधाके दर्शन व श्रवणकी असहनता—जैसे किसी पुरुषके मन्त्र शस्त्र आदिक किसी भी प्रकारका बल हो तो उस समस्त बलके द्वारा पूज्य जनोंके उपसर्गको दूर करनेमें समर्थ रहता है, लेकिन जिसके पास यन्त्र आदिकका सामर्थ्य भी न हो तो वह उन आदरणीय पुरुषों और साधनोंके प्रति बाधाको सहनेमें समर्थ नहीं होता । यहाँ वात्सल्यकी बात कही जा रही है । वात्सल्यका सम्बन्ध अन्तरङ्गभावनासे है । जिसके हृदयमें वात्सल्य भरा हुआ है वह पुरुष अपनी सामर्थ्यभर पूज्य पुरुषोंकी आपदाओंका निवारण करता है और बाह्यसामर्थ्य न रही हो तो भी वह बाधाको सहन नहीं कर सकता है । ऐसा वात्सल्य भावका उन ज्ञानी विवेकी पुरुषोंपर प्रभाव रहता है ।

यद्द्विधाऽत्र च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ।।८१०।।

स्ववात्सल्य, परवात्सल्य इन दो प्रकारोंके वात्सल्योंमें आत्मवात्सल्यकी प्रधानता—

वात्सल्य अङ्गका स्वरूप कहा गया है कि पूज्य संत महंतोंके प्रति और जैनमन्दिर आदिक धर्मस्थानोंके प्रति सेवकपनेका भाव रहना सो वात्सल्य है। सो यह वात्सल्य दो प्रकारसे होता है—(१) स्ववात्सल्य और (२) परवात्सल्य। इन दोनों प्रकारके वात्सल्योंमें स्ववात्सल्य प्रधान है और परवात्सल्य गौण है। वस्तुस्वरूप वस्तुमें ही प्रतिबद्ध रहता है। प्रत्येक जीवका परिणमन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सर्वस्व स्वमें स्वयंके आत्मामें रहा करता है। इस कारण वस्तुतः कोई किसीसे न प्रेम करता, न द्वेष करता, न कोई किसी दूसरेका सुधार-बिगाड़ करता। फिर भी व्यावहारिकताके नाते उनके किसी भी कार्यमें सहयोगी होना, निमित्त होना, यह भी देखा जाता है। तो वत्सल पुरुष धर्मी जनोंमें, धर्मसाधनोंमें वात्सल्य रखता है, पर वस्तुतः वहाँ भी स्वका ही वात्सल्य कहा गया है, यह समझना चाहिए। जिसको अपने गुणों के प्रति आदर है वही पुरुष दूसरे गुणवान पुरुषको देखकर भक्ति और प्रेमसे उमड़ सकता है। तो जहाँ दूसरेके प्रति निश्छल प्रीति की गई है वहाँ समझना चाहिए कि अपने गुणोंमें ही उसने प्रीति दृढ़ की है। यों सर्वत्र स्ववात्सल्य प्रधान है और परवात्सल्य गौण है।

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिदम् ॥८११॥

स्वात्मवात्सल्यमें परीषहोपसर्गादिसे पीड़ित हुए भी आत्माको शुभाचार, ज्ञान व ध्यानमें शिथिलता न होनेकी विधि—इस श्लोकमें आत्मवात्सल्यका वर्णन किया गया है। परीषह और उपसर्ग आदिकसे कदाचित् पीड़ित हो जाय कोई ज्ञानी पुरुष तो वह अपने सभी आचरणोंमें ज्ञान और ध्यानमें शिथिलता न आने दे, इसका नाम है आत्मवात्सल्य। अपने आत्मासे प्रेम है, इसका अर्थ यह है कि आत्माके गुणविकासमें इसका आदर है और आत्म-गुणविकासके लिए उसे सर्वस्व समर्पण करना पड़े, विषयकषायोंका पूर्णतया परिहार करना पड़े, जो कुछ भी करना हो वह सब कुछ करना भी चाहता है। इसका कारण यह है कि उसे आत्मगुणोंमें सही विकास हुआ है, तब कोई परिग्रह उपसर्ग आदिक कदाचित् आ जायें इस सम्यग्दृष्टिपर तो वहाँ यह यत्न करता है कि मेरा ज्ञाननिधान न जल पाये। कहीं संक्लेश परिणामकी अग्निमें हमारा ज्ञान, ध्यान, संयम दग्ध न हो जाय, ऐसी वह अन्तःसावधानी रखता है और भेदविज्ञान और स्वात्मस्वरूपकी दृष्टि रूप शीतल जलसे सिंचन करता रहता है ताकि ज्ञान ध्यान संयममें शिथिलता भी न आ सके। तो परीषह और उपसर्ग आदिकसे पीड़ित होनेपर अपने श्रेष्ठ आचरणमें शिथिलता न आने दें, उस अन्तरङ्ग आचरणको प्रबल बनायें, ज्ञानमें भी शिथिलता न आने दें, ज्ञानज्योतिकी दृष्टि रखनेका पौरुष बनाये रहें और ध्यानमें कुछ शिथिलता न आने दें, इस ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्वका चिन्तन बनाये रहें, सो यह स्वात्मवात्सल्य कहलाता है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ॥८१२॥

परवात्सल्यमें शुद्ध ज्ञानबलसे बाधापकर्षणकी विधि—दूसरे वात्सल्यका नाम है परवात्सल्य। दूसरे आत्माके सम्बंधमें वात्सल्य करना, यह गौणरूपसे कहा गया है। और वस्तुतः जो अपने आत्मापर वात्सल्यभाव नहीं रखता वह सही मायनेमें दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति भी वात्सल्य नहीं कर सकता। तो सम्यग्दृष्टि पुरुषका परवात्सल्य गौण गुण है और इस तरहका निर्णय किसी पुरुषपर कोई बाधा आये तो बाधा क्या आयी कि ज्ञानगुण शुद्ध रूपमें न रह सका और वह बिगड़ गया। जिससे संक्लेश हुआ, यही तो बाधा है। इस बाधाको निश्चयतः दूर करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? भले ही अन्य धर्मात्मा जन कुछ उपदेश दें तिसपर भी करना तो इसको स्वयं ही होगा। तो शुद्ध ज्ञानके बलसे अपनी बाधा दूर की जा सकती है, इस कारणसे स्ववात्सल्य ही प्रधान है। यों आत्मीय शुद्धिका परिणाम करना, आत्मशुद्धिको बढ़ाना, उसमें आदर रखना, यह सब स्ववात्सल्य कहलाता है।

प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥८१३॥

उत्कर्षकरणरूप प्रभावनाङ्ग नामक सुदृष्टि गुणका निर्देश—वात्सल्य अङ्गका वर्णन करनेके पश्चात् प्रभावना अङ्गका स्वरूप कहा जा रहा है। सम्यग्दृष्टि जीवका प्रभावना अङ्ग भी प्रसिद्ध गुण है। प्रभावना शब्दका अर्थ क्या है? भवन मायने होना, हुआना, प्र मायने प्रकृष्ट रूपसे अर्थात् उत्तम कामके होनेको प्रकृष्ट रूपसे हुआना, इस प्रकारका जिसमें भाव बना हुआ है उसको प्रभावना अङ्ग कहते हैं। प्रभावना अङ्गमें उत्कर्षकी प्रधानता है। धार्मिक क्रियावोंमें उन्नति करना जिससे कि स्वयंपर भी प्रभाव हो और दूसरे लोगोंपर भी प्रभाव हो उसे कहते हैं प्रभावना अङ्ग। जैसे बाह्य प्रभावनामें यही तो बात बनती है कि अन्य लोग निरख करके यह शिक्षा ग्रहण करें कि आत्माका उद्धार कर सकने वाला यह जैनशासन है, स्याद्वाद नीति है और ऐसा जानकर वह स्वयं अपने आपकी प्रभावना कर सके। बाह्य प्रभावनाका भी अर्थ यही है कि लोग अपनी प्रभावना बना सकें। तो प्रभावनामें आत्मकार्यके उत्कर्षकी प्रधानता है। सो यह प्रभावना अङ्ग भी सम्यग्दृष्टिका प्रसिद्ध गुण है।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्यादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥८१४॥

प्रभावनाङ्गमें अधर्मोत्कर्षका प्रतिषेध व धर्मोत्कर्षका विधान—धर्मकार्यका उत्कर्ष करना ही प्रभावना है। पापरूप अधर्ममें किञ्चित मात्र भी उत्साह और चिन्तन न रखना चाहिए, क्योंकि अधर्मका उत्कर्ष बढ़ानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है, और हिंसारूप अधर्मका

उत्कर्ष होगा, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता। धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका। जिस प्रकार सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्रका उत्कर्ष हो और दूसरे लोग भी अपने सम्यक्त्व गुण, चारित्रके उत्कर्षके लिए यत्न कर सकें उसको प्रभावना अङ्ग कहते हैं। सो प्रभावनामें रत्नत्रयरूप धर्मकी उन्नति ही अभीष्ट है। अधर्मकार्यमें उत्कर्ष तो क्या, चित्तमें विचार भी न लाना चाहिए, ऐसे विशुद्ध अभिप्राय वाले सम्यग्दृष्टि जीवके प्रभावना अङ्ग होता है।

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोप्यतः ॥८१५॥

स्वात्मप्रभावना व परात्मप्रभावना इन दो प्रकारके प्रभावनाङ्गोंमें स्वात्मप्रभावनाकी मूल आदेयता—जैसे वात्सल्यके दो भेद किए गए हैं—(१) स्ववात्सल्य और (२) परवात्सल्य। स्थितिकरणके भी दो प्रकार बताये गए हैं—(१) स्वस्थितिकरण और (२) परस्थितिकरण, इसी प्रकार प्रभावना अङ्गके भी दो प्रकार होते हैं—(१) स्वात्मप्रभावना, (२) परात्मप्रभावना। अपने आत्माके गुणोंका उत्कृष्ट रूपसे हुआना और अपने आपमें आत्मगुणके विकासका प्रभाव प्राप्त करना सो तो स्वात्मप्रभावना है और निर्मल दर्शन, ज्ञान चारित्र निरखकर दूसरे जीवका दर्शन, ज्ञान, चारित्रके प्रति प्रीति उत्पन्न करे और इस रत्नत्रयरूप धर्ममें आदरबुद्धि बनाये सो यह कहलाता है परप्रभावना। प्रभावना अङ्ग ज्ञानोत्कर्षसे सम्बंध रखता है। जिस किसी भी प्रकार अज्ञानरूप अंधकारको दूर करके यथायोग्य जैनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना प्रभावना अङ्ग कहलाता है। प्रभावनामें मूल कार्य अज्ञानविनाश है। खुदके भी अज्ञान मोह रागद्वेषका विनाश हो जिसके प्रतापसे आत्मगुण स्वयंमें प्रकृष्टरूपसे बढ़ते चलें, और दूसरे पुरुष भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके लाभके लिए अपना उत्साह बनायें और यह समझ सकें कि वास्तवमें आत्माके विशुद्ध स्वरूपका श्रद्धान होना और ज्ञान होना और उस ही विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण बने तो इससे ही धर्म और दृष्टि प्रकट होती है, इसके विपरीत कोई धर्मका स्वरूप नहीं है। तो अपने आपके स्वात्मामें रत्नत्रय गुणका उत्कर्ष होने देना सो स्वात्मप्रभावना है और स्वात्मप्रभावनाके बलसे जो अन्य जीवोंके हृदयमें भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रके प्रति आदरभाव जगता है और उनको भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रका लाभ होता है सो यह कहलाता है परप्रभावना, अर्थात् आत्महितकारक जैनशासनके उपदेशका, वस्तुके सही स्वरूपका सर्वजीवोंको बोध हो, जिससे वे अपने अज्ञान, भूलसे पाने वाले कष्टोंको समाप्त कर सकें और ज्ञानप्रकाशमें रहकर शुद्ध तृप्त विशुद्ध आनन्दमय हो सकें, ऐसी स्थिति बनानेका नाम प्रभावना है। यदि यह स्थिति अपने आपमें बनती है तो इसका नाम है स्वात्मप्रभावना और स्वात्मप्रभावनाके निमित्तसे यदि परजीवोंमें यह स्थिति बनती है, उनके गुणोंमें उत्कर्षका यत्न

होता है तो यह कहलाता है परप्रभावना ।

उत्कर्षो यद्बलाद्विक्रियादधिकीकरण वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥८१६॥

आत्मगुणोत्कर्षक प्रभावनाङ्गकी गुणोत्पादकता—प्रभावना अङ्गमें बताया गया है कि आत्मगुणोंका उत्कर्ष करना सो आत्मप्रभावना है । ऐसे उत्कर्षका अर्थ इस श्लोकमें किया गया है । विपक्षके न रहते सनते जो बलपूर्वक, वेगपूर्वक अपने धर्मकी वृद्धि करना, इसका नाम उत्कर्ष है । विपक्ष है मिथ्यात्व, रागादिक भाव । वह रहे नहीं और आत्माका धर्म है ज्ञानस्वभावकी प्रतीति लेना, ज्ञाता मात्र स्थितिमें रहना । तो इस प्रकारके धर्ममें जो वेगपूर्वक आगे बढ़ना है अर्थात् रागद्वेषरहित होकर केवल ज्ञातादृष्टा मात्र रहना है वही आत्माका उत्कर्ष है । लौकिक जन वैभव संचयमें, परिजन, मित्रजनके उत्कर्षमें अपना उत्कर्ष समझते हैं । यह मूढ़ताभरा उनका ध्यान है । किसी भी बाह्यपदार्थमें कुछ परिणति हो जानेसे आत्माका कोई उत्कर्ष नहीं कहलाता है । आत्मोत्कर्ष तो आत्मगुणोंके विकासमें ही है । शान्तिका मार्ग भी आत्मगुणोत्कर्षसे है । कहीं लाखों करोड़ोंका वैभव इकट्ठा हो जाय इससे आत्मशान्ति प्रकट नहीं होती । वह तो पौद्गलिक चीज है । उसका परिणमन उसमें है । यहाँ शान्ति कैसे प्रकट होगी ? और यदि कुछ निमित्त है वह अर्थात् आश्रयभूत बनता है वैभव तो वह अशान्तिका ही आश्रय बनता है, क्योंकि वैभवकी ओर दृष्टि रहनेमें राग होगा अथवा कदाचित् किसी अन्य वैभवको देखकर द्वेष होगा तो उसमें आत्माको क्लेश संक्लेश ही होता है । तो बाहरी पदार्थके किसी भी प्रकारकी परिस्थितिसे आत्माको शान्तिलाभ नहीं है, किन्तु अपने आपमें मलिनता न रहे और गुणोंका विकास बने, यही शान्तिका उपाय है । इस कारण इस शान्तिके उपायभूत धर्ममें उत्कर्ष होना सो वास्तविक उत्कर्ष कहलाता है । प्रभावना अङ्गमें आत्मगुणों के प्रकृष्टरूपसे हुआनेकी बात कही जा रही है । ऐसा यह प्रभावना अङ्ग कहीं भी दोषके लिए नहीं है, किन्तु गुणोंके उत्कर्षके लिए ही है । अर्थात् प्रभावना अंग होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवका कल्याण ही है । अकल्याण रंच भी नहीं है ।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥८१७॥

आत्मप्रभावनाके उत्तरोत्तर उत्कर्षका निर्देश—इस श्लोकमें आत्मप्रभावनाका स्पष्ट निरूपण किया गया है । मोहरूपी शत्रुका नाश हो जानेसे जो आत्मशुद्धि होती है वह आत्मा की प्रभावना है, और इस प्रभावनामें वह सम्यग्दृष्टि बढ़ता है तो वह और अधिक शुद्ध होता है, और यहाँ भी बढ़ता है तो उससे भी अधिक शुद्ध होता है । इस तरह कोई जीव शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम हो जाता है तो यही उसकी प्रभावना कहलाती है । मोहके दो भेद हैं—

(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह । सर्वप्रथम दर्शनमोहकी क्षति होती है, पहिले उपशम रूपसे क्षति होती है, पश्चात् क्षयोपशम रूपसे मोहकी क्षति होती है । इसके पश्चात् दर्शनमोहका सर्वथा क्षय हो जाता है और इस स्थितिमें यह जीव शुद्ध ज्ञानदृष्टि वाला हो जाता है, उसे कहते हैं जीवका शुद्ध हो जाना । जहाँ विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता है वहाँ जीवकी शुद्धि का प्रारंभ होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होनेपर यह जीव शुद्ध हुआ कहलाता है । इसके पश्चात् जब चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम बढ़ता है तो चारित्रमोहके अनुदयमें यह जीव विशिष्ट शुद्ध होता है । शुद्धतर उसे कहते हैं जहाँ अन्यकी अपेक्षासे अधिक शुद्धता प्रकट होती है । तो शुद्धतरके अनेक भेद होते हैं । जीव शुद्ध हुआ, इसका अर्थ है कि सम्यग्दृष्टि हुआ । वह भी अनेक प्रकार हुआ, पर वह सम्यक्त्वकी दृष्टिसे एक ही प्रकार है । वहाँ उपशम और क्षयसे होने वाला सम्यक्त्व तो एक ही प्रकारका है, पर क्षयोपशम सम्यक्त्वमें कुछ मलिनताकी विविधता होनेसे अनेक प्रकारता आती है, फिर भी विपरीत अभिप्राय रहितपनेकी दृष्टिसे वह एक ही प्रकारका है, पर शुद्धिसे आगे जब शुद्धतर होनेमें बढ़ता है तो वहाँ चारित्रमोहनीयके नाना क्षयोपशम होनेके कारण विविध शुद्धतायें होती हैं । जैसे ११ प्रतिमारूपसे परिणामोंकी शुद्धि होना, उससे आगे बढ़कर शुद्धिधर्मके रूपसे नाना शुद्धियाँ होतीं । वहाँ भी संज्वलन कषायके नाना विपाक होनेसे नाना तरहकी आत्मशुद्धियाँ होती हैं, किन्तु जहाँ संज्वलनकषाय का भी क्षय हो जाता है अर्थात् दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय आदिक सभी मोहनीयका पूर्ण विनाश हो जाता है, उस समय जीवकी शुद्धतम अवस्था कहलाती है । तो आत्मा शुद्ध, शुद्ध-तर शुद्धतम बन जाय, इसीको आत्मप्रभावना कहते हैं ।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥८१८॥

गुणश्रेणीमें आत्मगुणोंके अधिकाधिक उत्कर्षकी स्वाभाविकता — उक्त श्लोकमें बताया गया है कि जीव शुद्ध शुद्धतर और शुद्धतम होता है । तो शुद्धतरकी अवस्थायें श्रेणीकी होती हैं और शुद्धतमकी अवस्था श्रेणीके अन्तमें होती है । तो इस प्रकारकी आत्मशुद्धिमें उत्कर्ष होना, यह पौरुषके आधीन नहीं है, अथवा पौरुष भी कहो तो आत्मामें जो शुद्धि बढ़ रही है वही पौरुष है । बुद्धिपूर्वक स्वाध्याय आदिककी प्रवृत्तियाँ करके वह पौरुष नहीं बनता है जिसके द्वारा इतना महान उत्कर्ष हुआ करता है । तो शुद्धतर और शुद्धतम वाला उत्कर्ष आत्माके पौरुषके आधीन नहीं, किन्तु स्वभावसे ही होता है । जिन संतोंकी दृष्टिमें यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मा समाया हुआ है तो इस सहज ज्ञायकस्वरूप आत्माकी अनुभूतिरूपी सुधा के पानसे स्वभावतः ऐसी शुद्धि और उत्कर्ष बढ़ता रहता है तो उत्तरोत्तर यह जो शुद्धि बढ़ती है वह श्रेणीके क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहनेसे यह शुद्धि सिद्ध होती है । असंख्यात

गुणी निर्जरा पहिले तो शुद्ध होते समय हुई थी, सम्यक्त्व होनेके समय जीवके असंख्यातगुणी श्रेणी कर्मनिर्जरा होती है, अर्थात् जितने कर्म पहिले समयमें खिर रहे हैं उससे असंख्यातगुने दूसरे समयमें खिरते हैं। इस प्रकार अंतर्मुहूर्त तक गुण श्रेणी निर्जरा होती है। इसके पश्चात् जब-जब विशिष्ट उत्कर्ष होता है तब तब यह असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। ऐसे मौके अनेक बार होते हैं, जैसे क्षायक सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबंधीके विसंयोजनके समयमें असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा चलती है। पश्चात् दर्शनमोहनीयके क्षयके लिए असंख्यातगुणी निर्जरा चलती है। इसके पश्चात् महाव्रत धारण करते समय और इसके बाद चारित्रके उत्कर्ष होते समय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस तरह इन अनेकों प्रसंगोंमें गुण श्रेणी निर्जरा होनेसे यह आत्माका उत्कर्ष स्वभावत: सिद्ध हो जाता है।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥८१६॥

विद्या, मन्त्र, तप, दान आदि द्वारा बाह्य प्रभावनाकी विधेयताका कथन—स्वात्म-प्रभावनाका वर्णन करके अब परप्रभावनाके प्रसंगमें बाह्य प्रभावनाकी बात कही जा रही है। विद्या मंत्र आदिक बलोंके द्वारा बाह्य प्रभावना अङ्ग हुआ करते हैं। अन्य साधारण जन समूह भी कुछ चमत्कारोंको निरखकर यह श्रद्धान करने लगेंगे कि जैनशासनमें अद्भुत सामर्थ्य है। तो इतना ही समझकर साधारण जनसमूह इस पवित्र जैनशासनकी ओर अपनी बुद्धिके अनुसार आकर्षित होगा और इस तरह थोड़ा बहुत जैनधर्मकी ओर आकर्षण होनेपर जब जैन-धर्म सम्बन्धी तपश्चरण आदिक क्रियावोंको समझेंगे तो उनका अधिक आकर्षण होगा, और इस तरह होते-होते जब वास्तविक तत्त्वज्ञानकी बात समझने लगेंगे तो उनका वास्तवमें उद्धार हो जायगा। तो आत्मोद्धारके लिए ही बाह्य प्रभावना कही गई है। दूसरा जीव जिस किसी प्रकार अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी ओर बढ़े इस लक्ष्यसे ही बाह्यप्रभावना होती है। तो विद्याके बलसे, मंत्र आदिकके बलसे, तपश्चरणसे दान आदिक उत्तम कार्योंसे जैनशासनका उत्कर्ष बढ़ाना चाहिए। जैनशासनके द्वारा जीवका कितना अलौकिक उपकार होता है? इसका वर्णन करनेके लिए कोई शब्द नहीं है कि जो यथार्थ महिमा बतायी जा सके। भला अनादि-कालसे रुलते हुए इस जीवको कोई ऐसा प्रकाश मिले जिस प्रकाशमें आकर यह सदाके लिए इस संसार-विडम्बनाको छोड़ दे। इस संसारविडम्बनासे मुक्ति पा ले, ऐसा उपाय मिले उससे बढ़कर उपकार क्या कहा जा सकता है। ऐसा महान उपकार जैनशासनके द्वारा सम्भव है। तब ऐसे उपकारी जैनशासनकी जिस किसी भी प्रकार हो प्रभावना करना, यह महापुरुषोंका कर्तव्य है। तो आत्मोत्कर्षमें बताया गया था कि अपने आपमें अपने गुणोंका उत्कर्ष करना आत्मप्रभावना है। तो जिस आत्मप्रभावनासे स्वयंके आत्माका कल्याण होता है, इस प्रकार

का कल्याण अन्य जीव भी प्राप्त कर लें, एतदर्थ जो कुछ बाह्य प्रभावना होती है वह भी प्रभावना अंग कहलाता है। तो वह प्रभावना होती है विद्याके बलसे। लौकिक जन अंगोंके ऐसे-ऐसे विद्यावान जैनशासनके अनुयायी होते हैं। मंत्र आदिकके बलसे लोग समझेंगे कि जैनशासनके अनुयायी ऐसे मांत्रिक होते हैं कि जिनका अद्भुत चमत्कार है अथवा जैनशासनके अनुयायियोंका तपश्चरण निरखकर अन्य लोग यह समझें कि धन्य है इनका अलौकिक आचरण जो कि अज्ञानी जनोंसे न किया जा सके, कैसा विशिष्ट तपश्चरण है? तपश्चरणको देखकर भी जनसमूह प्रभावित हो जाय और आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदानके उत्कर्षको देखकर भी लौकिक जन जैनशासनके अनुयायी, निर्मोह और परोपकारी हुआ करते हैं। तो इन विधियोंसे जैनशासनकी प्रभावना करना चाहिये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥८२०॥

मिथ्यात्वोत्कर्षशालीपर मान्त्रिकादिकोंके अपकर्षके लिये चमत्कारोंकी विधेयता—महान आत्माओंका प्रधान कर्तव्य क्या है? इसका वर्णन आत्मप्रभावनाके प्रसङ्गमें किया गया था। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि महान पुरुष जब निर्विकल्पसमाधिमें नहीं होते, आत्माकी उत्कृष्ट उत्कर्षकी गतिविधिमें नहीं होते उस समय उनका यह भी कर्तव्य है कि ऐसा चमत्कार करने वाले प्रयोग करें, जिससे मिथ्यात्वक्रियाके बढ़ानेमें जो लोग लगे हुए हैं उन पुरुषोंका अपकर्ष हो अर्थात् जनसमूह यह जान जाय कि इस मिथ्यात्वभावमें लगे हुए पुरुषोंमें कोई बल नहीं है, इनकी हीनता समझमें आ जाय, यह भी बाह्यप्रभावनाका एक अङ्ग है। इससे लाभ यह होगा कि जनसमूहमें मिथ्या विडम्बनाके प्रति आकर्षण न होगा। जब ज्ञानी पुरुषोंकी ओर जनसमूहका चित आकर्षित होगा, ये चमत्कारवान हैं, ऋद्धि सिद्धि सम्पन्न हैं, इनमें सर्व सामर्थ्य पाया जा रहा है, ऐसा परिचय करके जब ज्ञानी पुरुषोंकी ओर उनका आना होगा तो वे आत्मोत्कर्षके साधनभूत रत्नत्रयका लाभ भी आसानीसे प्राप्त कर लेंगे। इस कारण महान आत्माओंको ऐसे चमत्कार भी कुछ करना चाहिए, जिन चमत्कारोंको मिथ्या क्रियावोंमें बढ़ते हुए पुरुषोंका अपकर्ष सिद्ध हो। यह भी बाह्यप्रभावना अङ्गका एक रूप है जिससे जैनशासनकी महत्ता बढ़े और मिथ्या शासनकी हीनता सिद्ध हो, ऐसा चमत्कार करना भी बाह्यप्रभावना अङ्गमें कर्तव्य बताया गया है।

उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥८२१॥

प्रभावनाङ्गसे सम्यग्दर्शनके गुणाष्टककी सम्पूर्णता—यहाँ अन्तिम अष्टम प्रभावना अङ्गका वर्णन किया गया है, सो यह प्रभावना अङ्ग नामक कोई सम्यग्दर्शनसे सहित है। इस

प्रभावनामें सम्यग्दर्शन अवश्यंभावी है, अथवा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसके द्वारा ही ऐसी उत्तम प्रभावना बन सकती है। सो इस प्रभावना अङ्गके कारण सम्यग्दर्शनके ८ गुण संपूर्णता को प्राप्त होते हैं। प्रकरण अनुसार इसका भाव यह है कि प्रभावना अंगका वर्णन जहाँ संपूर्ण होता है वहाँ सम्यग्दर्शनके ८ गुणोंका वर्णन सम्पूर्ण हो सकता है। यह तो एक क्रमको सिद्ध करने वाला भावार्थ है। साथ ही यहाँ आध्यात्मिक अर्थ भी देखिये कि जहाँ प्रभावना अङ्ग सम्पूर्णताको प्राप्त होता है वहाँ सभी गुण सम्पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं। प्रभावना अंगमें आत्मप्रभावनाका प्रधानतया कथन किया गया है और कर्तव्य भी आत्मप्रभावनाका प्रधानतया बताया गया है। तो जहाँ आत्माकी शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम अवस्था प्रकट हो जाती है वहाँ समझिये कि सम्यग्दर्शन पानेका जो उत्कृष्ट फल है वह फल प्राप्त हो गया। तब ऐसी स्थितिमें सम्यग्दर्शनके वास्तविक आठों ही गुण पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं। सम्पूर्णताको प्राप्त हुए कहो या समाप्त कहो, वास्तवमें दोनोंका अर्थ एक ही है। सम्पूर्णका अर्थ है भली प्रकार पूरा हो चुके और समाप्तका अर्थ है भली प्रकार, आप्त, प्राप्ति अर्थात् लाभ हो चुका है, पर लोकरूढ़िमें समाप्तका अर्थ अभाव करने लगे हैं। सो उसका कारण यह हुआ कि जब पाने योग्य चीजकी प्राप्ति हो जाती है तो उस लाभके आगे अब कुछ करनेको शेष नहीं रहता, पानेको शेष नहीं रहता, तो पूर्ण प्राप्तिके मायने ही यह हैं कि आगे अब कुछ अलाभ न रहा, अभाव न रहा अर्थात् करने योग्य अब नहीं रहा। उस स्थितिको निरखकर पहिले तो कुछ समय तक यही दृष्टि रही, बादमें लोग भूल गए कि समाप्ति कहते हैं पूर्ण प्राप्तिको। तो पूर्ण प्राप्तिका भाव तो हट गया और आगेका जो भाव है सो अभाव अभाव ही भावमें रह गया, तब लोग अर्थ करने लगे समाप्तिका विनाश, लेकिन समाप्ति, सम्पूर्णता, ये भरे-पूरे लाभको कहते हैं। तो प्रभावना अङ्गका वर्णन सम्पूर्ण होनेके साथ ही ८ अङ्गोंका वर्णन यहाँ सम्पूर्ण हो रहा है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥८२२॥

सम्यग्दृष्टिके अनेक गुणोंके निर्देशका उपसंहार तथा मौलिक विशिष्ट गुणके वर्णनका संकल्प—इस प्रकरणमें सम्यग्दृष्टिके ८ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। सो यह संक्षेपमें प्रधान गुणोंका वर्णन है, पर ऐसे-ऐसे अनेक गुण सम्यग्दृष्टिमें पाये जाते हैं। उनका पृथक्-पृथक् विचार करनेपर तो बहुत ग्रंथ विस्तृत हो जायगा, फिर भी जो कुछ इस प्रसङ्गमें और विवक्षित है उस विवक्षित विषयका वर्णन किया जायगा। सम्यक्त्वमें क्या-क्या गुण प्रकट होते हैं? सो प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निन्दन, गर्हन आदिक अनेक गुण बताये गए थे। उन गुणोंमें यह बात प्रसिद्ध हो गयी थी कि ये गुण तो सम्यक्त्वके साथ भी सम्भव हैं,

और कदाचित् विशुद्धिवान मिथ्यादृष्टिके साथ भी सम्भव हैं, पर स्वानुभूति नामक एक गुण ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शनके साथ ही प्रकट हो सकता है। उस स्वानुभूतिसे सहित प्रशम आदिक गुण हों तो ये गुण कहलाते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके कुछ गुणोंका वर्णन करनेके बाद अब सम्यग्दर्शनके अंगभूत गुणोंका वर्णन किया गया। जैसे शरीरके अङ्ग न हों तो शरीर क्या ? इसी प्रकार ये निश्चय ८ अङ्ग न हों तो सम्यग्दर्शन क्या ? ऐसे सम्यग्दर्शनके अङ्गभूत ८ गुणोंका वर्णन किया गया। अब इस वर्णनके साथ ही सम्यग्दर्शनके सभी गुणोंका वर्णन हुआ समझना चाहिए। अब जो कामका कर्तव्य है उसको दिखानेके लिए एक चेतना गुणका सही स्वरूप कहा जायगा। जिस परिचयके बाद ऐसा ज्ञानप्रकाश प्रकट होगा कि जिसका आश्रय करनेसे आत्माका उद्धार होता है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन द्वादश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह द्वादश भाग सम्पन्न हुआ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

।। शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टयाम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभवावमनुपर्ययं याति ।।